ब्रह्मसूत्र-वृत्ति मिताक्षरा का समीक्षात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-निबन्ध

प्रस्तुतकर्त्री

कु० श्याम बाला राय

निर्देशक

प्रो० सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव

कुलपति

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

संवत् 2053

कृतज्ञता

वेदान्त दर्शन संसारिक वस्तुजात के अन्तः स्थित परम तत्त्वरूप ब्रह्म का ज्ञान कराता है। और इस वेदान्त दर्शन के मूलभूत उपनिषद् के अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र भी है। ब्रह्म सूत्रों पर अनेक वृत्ति तथा भाष्य ग्रन्थों की रचना हुई है। इनमें अन्नं भट्ट रचित मिताक्षरावृत्ति वेदान्त दर्शन का अद्वितीय ग्रन्थ है।

स्नातकोत्तर परीक्षाउत्तीर्ण करने के पश्चात् शोध कार्य करने की मेरी प्रबल इच्छा हुई। अध्ययन काल में ही श्रद्धेय गुरूवर प्रो० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव से मैं अत्यन्त प्रभावि थी इसलिए सर्वप्रथम शोधकार्य की जिज्ञासा उन्हीं के समक्ष रखी। वे मेरी प्रशंसा करते हुए, शोध कार्य के लिए उत्साह वर्धन करते हुए इस मिताक्षरावृत्ति के समीक्षात्मक अध्ययन से सम्बन्धित शोध कार्य का उत्तरदायित्व मुझे प्रदान किया और मेरे बहुत आग्रह करने पर भी शोधकार्य में निर्देशक बनना स्वीकार किया।

प्रो० श्रीवास्तव जी के पास कार्य का आधिक्य होने के कारण समय अल्प ही प्राप्त होता था। इस विषय में प्रेरणा तथा परामर्श के लिए प्रो० संगमलाल पाण्डेय का नाम सुझाया। मैं उनके पास गयी। डा० पाण्डेय ने इस विषय में पर्याप्त मार्गदर्शन करते हुए मिताक्षरा वृत्ति के विषय में पूर्ण जानकारी प्रदान की। और मुझे यह लगा कि मैं शोधकार्य कर सकूँगी। इस कार्य को मैंने मूर्तरूप प्रदान करना प्रारम्भ किया। प्रो० श्रीवास्तव जी के सफल मार्गनिर्देशन में यह कार्य पूर्णता को प्राप्त किया।

यह शोधप्रबन्ध अपने प्रत्येक विषयों को प्रकाशित करता है। मिताक्षरा से सम्बन्धित प्रत्येक अंशो का पूर्णतया विचार किया गया है। मिताक्षरावृत्ति वेदान्तदर्शन

तत्त्वावोधन में कितनी सफल है, किस किस का इसमें प्रभाव है इस पर पर्याप्त विचार किया गया है। इस प्रबन्ध के अध्ययन करने से न केवल मिताक्षरावृत्ति का अपितु सम्पूर्ण वेदान्त के मूलभूत तत्त्वों का, सिद्धान्तों का पूर्णतया ज्ञान प्राप्त हो सकता है।क्योंकि उन सभी विषयों का पर्याप्त अध्ययन करके तथा अनेक विद्वतजनों से परामर्श करके लिखा गया है।

इस शोध कार्य के सम्पादन में वैदुष्यपूर्ण मार्ग निर्देशन करके इसको उच्चस्तरीय प्रदान करने वाले परम आदरणीय श्रद्धेय गुरुवर प्रो0 सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव जी के प्रति मैं अपना हार्दिक आभार प्रकट करती हुई उनके प्रति कृतज्ञ हूँ।इन्होंने अत्यन्त व्यस्तता में रहते हुए भी मेरे शोध प्रबन्ध से सम्बन्धित समस्त शंकाओं का समाधान करते हुए अपने सुचिन्तित वक्तव्यों एवं परामर्शों द्वारा यथावसर मेरी दृष्टि को स्पष्ट और सन्तुलित करते हुए मुझे सदैव आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान किया। प्रो0 संगमलाल पाण्डेय जी के प्रति मैं अपनी हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ। इन्होंने शोध प्रबन्ध के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रदान करते हुए मेरा उत्साह वर्धन किया।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भूतपूर्व प्राध्यापक डा0 राजकुमार शुक्ल के प्रति सदैव कृतज्ञ रहूँगी जिन्होंने ने न केवल शोध कार्य में उचित सुझाव देकर मेरे उत्साह को बढ़ाया अपितु यथावसर गलतियों को इंगित कर उन्हें सुधारने का बहुमूल्य सुझाव दिया।

गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ,इलाहाबाद के प्रो0 किशोरनाथ झा मेरे परम श्रद्धा के पात्र है।, जिन्होंने न केवल शोधप्रबन्ध में महत्त्वपूर्ण विचारों को प्रदान किया अपितु शोध प्रबन्ध की रूप रेखा के स्वरूप में उन्हीं का पूर्ण योगदान रहा। अत: उनके अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

सौदामिनी महाविद्यालय, इलाहाबाद के न्यायविद व्याकरणाचार्य डा० भगवतशरण शुक्ल की महती कृपा रही। शोध कार्य कराने में इनके सौहार्द पूर्ण सहयोग से ही मैं अपना यह गुरुतर कार्य करने में समर्थ हुई हूँ। अत: इन गुरुजनों के प्रति भी मैं हृदय से आभारी हूँ।

अपने द्वारा शोध कार्य को निर्विघ्न सम्पन्न हो जाने के लिए मैं अपनी माँ श्रीमती रेवती राय का आशीर्वाद ही मानती हूँ। साथ ही शोध कार्य के लिए सदैव प्रेरित करने वाले तथा पठन पाठन का वातावरण एवं सामग्री प्राप्त कराने में सर्वदा तत्पर रहे छोटे भाई सुनिलकृष्ण तथा जैनेन्द्र कुमार के प्रति आभार प्रकट करना उनके द्वारा दिये गये स्नेह और सम्मान का निरादर करना ही होगा।

इस प्रकार पूर्वोक्त मनीषियों के सतत प्रेरणा परामर्श तथा उत्साह वर्धन से पूर्ण हुआ यह शोध प्रबन्ध विद्वानों के लिए अवश्य ही सन्तोष कारक होगा। इसमें जितनी विशेषताएँ है वे सब इन्हीं मनीषियों के प्रेरणा का पक्व फल है। यदि कोई त्रुटि प्रतीत होती है तो वह मेरी ही असावधानता मानी जा सकती है, जिसकी सम्भावना अल्प ही है। क्योंकि मनीषियों के द्वारा संशोधित मार्ग दूषित नहीं होते।

श्यामबाला राय

0 0 0 0 0
0 0 0
0

ब्रह्मसूत्र - वृत्ति - मिताक्षरा का समीक्षात्मक अध्ययन

अनुक्रमणिका — पृष्ठ संख्या

भूमिका

§अ§ अन्नंभट्ट का परिचय एवं वैदुष्य

§आ§ ब्रह्म सूत्र-वृत्ति मिताक्षरा का साधारण परिचय

§इ§ §1§ सूत्र की व्याख्या-परम्परा में वृत्ति का स्थान

§2§ वृत्ति की मिताक्षरा में उसका समन्वय

§3§ भाष्य एवं वृत्ति में अन्तर का प्रदर्शन

§4§ ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य ग्रन्थ तथा

§5§ ब्रह्मसूत्रों के प्रसिद्ध व्याख्यान

(अ) अन्नं भट्ट का परिचय एवं वैदुष्य

ब्रह्मसूत्र वेदान्त का महत्त्वपूर्ण अंश है। जिसकी संरचना भगवान वेदव्यास द्वारा हुई है। ब्रह्मसूत्र के ऊपर अनेक विद्वानों की जहाँ वृत्तियां है वहीं पर भगवान् शंकराचार्य सदृश परमाचार्यों के अनेक भाष्य प्राप्त होते हैं। भाष्यों तथा व्याख्यानों एवं वृत्तियों के रहने पर भी ब्रह्मसूत्र की मिताक्षरा वृत्ति का इसलिए भी विशेष महत्त्व स्वीकार किया जाता है कि यह परकालीन रचना है और इसमें पूर्वकालीन सभी भाष्यकार एवं व्याख्याकार के तर्कपूर्ण सिद्धान्तों का समन्वय है।

इस वृत्ति के संरचनाकार सर्वतंत्रस्वतंत्र महामहोपाध्याय अन्नं भट्ट अपने समय के दार्शनिक विद्वानों में अत्यन्त श्रेष्ठ माने जाते थे। यद्यपि उनका जन्मादि से सम्बन्धित पूर्ण रूप से प्रमाणिक विवरण प्राप्त नहीं होता किन्तु महाभाष्य के प्रदीप टीका के उद्योतन व्याख्यानमें उनका अपना कथन एक सामान्य विवरण प्रस्तुत करता है। किञ्च इस ग्रन्थ के प्रत्येक अध्याय के अन्त में भी इन्होंने अपना परिचय स्पष्ट रूप से दिया है-

---

1\. शिवयोः शाश्वतिकत्वं तनोतु शुभसन्ततिम् ।
निदर्शयितुमद्वैतं भजतामिव संगतम् ।।
श्रीशेषवीरेश्वरपण्डितेन्द्रं शेषायितं शेषवचोविशेषे ।
सर्वेषु तन्त्रेषु च कर्तृतुल्यं वन्दे महाभाष्यगुरुमाश्रयम् ।।
महाभाष्यप्रदीपस्य कृत्स्नस्योद्द्योतनं मया ।
क्रियते पदवाक्यार्थतात्पर्यस्य विवेचनात् ।।

(महाभाष्य प्रदीप व्याख्यानानि उद्योतन टीका)

"इति श्रीमहोपाध्यायश्रीमदद्वैतविद्याचार्यश्रीमद्राघवसोमयाजिकुलावतंसश्रीमत्तिरुमालार्यवर्यस्य सूनोरन्नम्भट्टस्य कृतौ श्री ब्रह्मसूत्रवृत्तौ मिताक्षरायां तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः।"

किन्तु दोनों विवरणों से यह ज्ञात होता है कि अन्नं भट्ट अद्वैत विद्या के श्रेष्ठ आचार्य श्रीमान राघव सोमयाजि के कुल में उत्पन्न श्रीमान आचार्य तिरुमल के ये पुत्र थे। ये अपने कथन में कहीं भी प्रदेश विशेष का उल्लेख नहीं किये है। किन्तु इनके नाम से यह अवगत होता है कि ये दक्षिण देश के आन्ध्र प्रदेश में इनका निवास स्थान रहा होगा। श्रीरामशास्त्री ने इस ब्रह्मसूत्र वृत्ति ग्रन्थ के भूमिका[1] में आन्ध्रप्रदेश के कृष्णा नदी के जल से पवित्र कोई ग्रामविशेष इनका जन्मस्थान का वर्णन किया है।

इनके विषय में विशेष विवरण "भारतखण्ड का ऐतिहासिक कोष" नामक मराठी भाषा के ग्रन्थ के लेखक आर०वी०गोडवोले पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है। जो इस प्रकार है- "अन्नं भट्ट एक तैलङ्ग ब्राह्मण थे जो गोरिकपाड़ा नामक ग्राम के निवासी थे। यह गाँव निजाम अली के शासन के अन्तर्गत था। उन्होंने 15वीं शब्ताब्दी में चालुक्यों के समय में 12 वर्ष न्याय का अध्ययन किया जो कोण्डीयपुरा या कोंड विद्दू में स्थित है वहाँ वे प्रसिद्ध नैयायिक बने। न्याय के अध्ययन के लिए अपने शहर में इन्होंने एक महाविद्यालय स्थापित किया। जहाँ वे अपने शिष्यों को "तर्क संग्रह; "तर्कदीपिका", "सिद्धान्तमुक्तावली" और "गदाधारी" से युक्त -"न्याय" के कार्यों का स्नातक श्रेणी में शिक्षा दिया।"

---

1. " अस्य च जन्मभूमिः आन्ध्रप्रदेशे कृष्णानदीवातपूतः ग्रामविशेषः।अयं च कौशिकगोत्रे सम्भूतः महामहोपाध्यायद्वैत विद्याचार्यराघवसोमयाजिकुलवंतसश्री तिरुमालाचार्यसूनुरंन्नभट्टनामा इति एतद्ग्रन्थ समाप्तिवाक्यादवगम्यते।"

(मिताक्षरावृत्ति भूमिका)

इनके समय के विषय में कई मत मिलते हैं जहाँ इन्हें आर0बी0गोडवोले महोदय 15 वीं शताब्दी का मानते है वहीं "इन्ट्रोडक्शन टु तर्क संग्रह" इ. पुस्तक में इनका समय 1625 से 1700 ई0 है। ऐसा डा0 दयानन्द भार्गव ने तर्कसंग्रह ग्रन्थ के अवतरणिका में उद्धृत किया है। वोड्स महोदय इनका जन्म 18 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मानते हैं। कुछ लोग 1650 ई0 में इनका जन्म हुआ था ऐसा स्वीकार करते हैं।

इन अस्पष्ट परम्पराओं के अलावा हम बिना झिझक के कह सकते हैं कि "अन्नम्-भट्ट अपेक्षाकृत आधुनिक लेखक थे। वह हस्तलेखकों की श्रेणी से सम्बन्धित थे, जो अधिकांशत: 16 वीं शताब्दी के बाद प्रसिद्ध हुए थे और जिनका मुख्य लक्ष्य न्याय और वैशेषिक को उनके अनावश्यक बारीकियों की काँट-छाँट करके सरल करना और नौसिखुओं की बुद्धि में लाना था। हमारे लेखक का अंतिम पड़ाव लगभग 1600 शताब्दी निर्धारित किया जा सकता है, जब गदाधर प्रसिद्ध हुए थे। "अन्नंभट्ट ने कदाचित् ही किसी पूर्ववर्ती लेखक का उल्लेख किया है, जो हमें उनका काल निधारण में सहायक हो। वह फिर भी "व्यापरवत् करण के बारे में विवाद का उल्लेख करते हैं, जो पहले "दीधित" के लेखक "रघुनाथ" के द्वारा शुरू किया गया था, जबकि "दीपिका" के अन्य उद्धरण में "प्रतियोगितावच्छेदका-रीत्य" वाक्य के लिए "दीधिति" से सीधा उद्धरण देते हुए प्रतीत होते है जो "इन्तरा" के पृष्ठ 62 के निचले भाग में पाया जाता है, और जो "दीपिका" के कई भागों में गलत पढ़ा गया है, "दिधिति" में सम्बन्धित गद्यांश में से लिया गया प्रतीत होता है। यह कहीं अन्यत्र दिखाया गया है कि "दीधिति" के लेखक "रघुनाथ शिरोमणि" 16 वीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में रहते थे। "दीधिति" को 1520 ई0 के लगभग लिखा गया होना चाहिए और अन्नंभट्ट निश्चित ही इसके बाद आये। "गदाधार" दो पीढ़ी बाद आये "रघुनाथ" के शिष्य के शिष्य "रघुदेव" के वह समकालीन थे। अत: गदाधर 16 वीं शताब्दी के अन्तिम

भाग में या तो मिथिला में या बंगाल में रहते थे। यदि यह सत्य है कि अन्नं भट्ट ने अपनी कृतियों का शिक्षण दूर के नगर कौण्डिन्यपुरम् में अपने विद्यालय में किया था, तो गदाधर और अन्नंभट्ट के बीच कुछ समय व्यतीत होना चाहिए जिससे पूर्ववर्तियों की कृतियों को प्रसिद्धि दूर दक्षिणी प्रान्तों तक पहुँची होगी। अन्न भट्ट द्वारा अपने विद्यालय में 'गदाधर' की कृतियों के अध्यापन की कहानी अन्य परम्पराओं से समर्थन व्युत्पन्न करती है, जिसके अनुसार तर्क दीपिका की रचना उनके उपयोग के लिए की गयी, जो गदाधर की बड़ी कृतियों को समझ नहीं सकते थे। इस प्रकार यह माना जा सकता है कि अन्नं भट्ट गदाधर के कुछ समय बाद के थे अर्थात 1800 वी शताब्दी के बाद हुए। यदि सिद्धान्त मुक्तावली के लेखक विश्वनाथ भी अन्नं भट्ट के पहले थे तो यह पड़ाव (1600 वी शताब्दी) और आगे स्थापित करना पड़ेगा। विश्वनाथ और उनका भाई रुद्रभट्ट जिसने "दीधिति" भाषा पर व्याख्यान लिखा, 17 वीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में रहने की अधिक संभावना है तो अन्नंभट्ट इसके पहले नहीं रह सकते।

अन्नं भट्ट का अंतिम समय 1700 ई0 स्थापित किया जा सकता है। तर्क संग्रह को एक प्रमाणिक कृति होनी चाहिए और 18वीं शताब्दी के अंतिम भाग की एक कठिन कृति भी। क्योंकि "श्रीकृष्ण धूर्जति" ने 1774 ई0 में प्रसिद्ध राजा "गजसिंह"के पुत्र राजसिंह की शिक्षा के लिए 'सिद्धान्त चन्द्रोदय' नाम से अपना भाष्य लिखा। वैद्यनाथ गाडगिल द्वारा लिखित "तर्कचन्द्रिका" तर्क संग्रह पर लिखा पूर्ववर्ती टीका प्रतीत होता है क्योंकि डेकन कालेज लाइब्रेरी में इसकी सूचना में इसकी रचना शक 1644 या 1722 ई0 दिया है। ये वैद्यनाथ सम्भवत: "तत्सत् वैद्यनाथ के समरूप थे जो नागेश के शिष्य थे और उनकी रचना "उद्योत" पर व्याख्यान के रचयिता थे। 1714 ई0 में "सवाई जय सिंह के द्वारा एक विशाल यज्ञ में निमंत्रित किये जाने से "नागेश भट्ट" जाने जाते हैं और इस प्रकार उनके शिष्य "वैद्यनाथ" ने अपना भाष्य अगले दशक में लिखा। तर्क संग्रह के

सूचना का साक्ष्य, इस बिन्दु पर निर्णायक है। स्टेन "तर्क संग्रह का रचना काल 1735 ई0 उल्लेख करते है और "तर्क दीपिका" का 1740 ई0। इन दो कृतियों का सबसे पुराना ज्ञात सूचना बोन के डा0 जैकोबी के पास है। इसका वर्तमान संस्करण पर {जे} अंकित है। इस तरह हम अन्नं भट्ट को सुरक्षित ढंग से 18 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में रख सकते है। 1625 ई0 से 1700 ई0 तक की अवधि न तो इतना लम्बा है, न इतना छोटा कि एक जिन्दगी इसमें न समा सके। और यदि हम "अन्नं भट्ट" को इन दो पड़ावों के {1625-1700} के बीच स्थापित कर सकते हैं तो परिणाम वर्तमान परिस्थितियों में सुन्दर और संतोषप्रद करार दिया जाना चाहिए।

अन्नं भट्ट गदाधर भट्टाचार्य तथा विश्वनाथ पंचानन के नैयायिक मतों से पूर्ण-रूप से प्रभावित थे। तर्क संग्रह यह ग्रन्थ विश्वनाथ पञ्चानन के "कारिकावलि" ग्रन्थ का, एक संक्षिप्त रूप सा प्रतीत होता है। इसलिए तर्कसंग्रह को न्याय शास्त्र के प्रवेश का द्वार भी कहा जाता है। विश्वनाथ प्रञ्चानन के बाद का समय इनका स्वीकार करना ज्यादा तर्क-पूर्ण तथा न्याय संगत है। इसलिए 17 वीं शताब्दी का समय ही इनका उपयुक्त प्रतीत होता है।

"अन्नं भट्ट" "तिरुमाला" के पुत्र थे, जो आचार्य पदनाम से संबोधित किये जाते थे। अन्न भट्ट को कई कृतियों की पुष्पिकायों में उनके नाम के पूर्व आदरसूचक उपाधि "अद्वैतविद्याचार्य" लगा है। पुष्पिका, जो संयोग से कई "अन्नंभट्ट" को पहचान सिद्ध करने में अत्यन्त उपयोगी रहा है, केवल डा0 जैकोबी के"तर्क दीपिका" में पायी जाती है {जिस पर जे अंकित है}। यद्यपि यह "अन्नंभट्ट" को दो अन्य कृतियों, एक मिताक्षरा जो बादरायण के "ब्रह्मसूत्र" पर भाष्य है और दूसरी व्याकरणिक कृति जिसका नाम विवरणोद्योत्ना या "भाष्य-प्रदीपोद्योत्ना" का खंडित अंश है, जिसमें पाताञ्जली के

महाभाष्य पर कैयट की प्रसिद्ध पाद टिप्पणी पर टीका है, के अन्त में आता है।अन्नं भट्ट के पिता "तिरूमाला" एक प्रसिद्ध ऋग्वेदी ब्राह्मण के रूप में आविर्भूत हुए जो वेदान्त दर्शन के विद्वान थे और राघव नाम के एक महान व्यक्ति जिसने सोमयज्ञ किया था के वंशधर थे। यह नहीं ज्ञात होता है कि तिरूमाला कोई कृतित्व की रचना की या नहीं लेकिन"आफ्रेच्ट" द्वारा इस नाम के कई लेखकों का उल्लेख मिलता है। "अन्नंभट्ट एक सर्वतो-मुखी विद्वान के रूप में आविर्भूत हुए क्योंकि उन्होंने कम से कम चार विद्याओं न्याय,वेदान्त व्याकरण और पूर्वमीमांसा पर कृतित्व की रचना किये । तर्क संहिता और तर्क दीपिका के अलावा आफ्रेच्ट ने "अन्नंभट्ट द्वारा रचित निम्नलिखित कृतियों का उल्लेख करते है - (1) मिताक्षरा (2) तत्त्वबोधिनी टीका (3) न्याय परिशिष्ट प्रकाश और (4) सुबोधिनी सुधासार । अन्य प्रकार से इसे "रणकोजीवनी" कहते है। इन सब में प्रथम बादारयण के ब्रह्मसूत्र पर संक्षिप्त वृत्ति है और नि:सन्देह तर्क संग्रह के लेखक द्वारा लिखी गयी है क्योंकि इसमें वैसी ही पुष्पिका है।जैसाकि जे" अंकित दीपिका में पाया जाता है। अन्य तीन के विषय में निश्चितता पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

पूर्वकाल से ही वाराणसी क्षेत्र के संस्कृत विद्या का प्रमुख स्थल होने के कारण प्रत्येक विद्वान का वैदुष्य वहीं पर परिमार्जित होता था। अन्नं भट्ट वाराणसी में ही न्यायादि विषयों के साथ-साथ व्याकरण के महाभाष्य सदृश प्रमुख ग्रन्थों का शेष वीरेश्वर से जहाँ प्रखर अध्ययन किया वहीं अन्य दर्शन शास्त्रों का अध्ययन करते हुए वेदान्त में ब्रह्म-सूत्र शारीरक भाष्य भामती व्याख्यान का सम्यक अध्ययन किया। इन्होंने अपने अध्ययन के बल से काशी में एक प्रमुख स्थान रखते थे। इसीलिए "काशीगमनमात्रेण नान्नम्भट्टायते द्विज:" यह लोकोक्ति इनके शास्त्रों के प्रखर अध्ययन के कारण प्रसिद्ध हुई। अर्थात् कोई भी व्यक्ति केवल काशी आने से ही अन्नंभट्ट की तरह प्रकाण्ड विद्वान नहीं हो सकता ।

वैसा बनने के लिए उसे अन्नं भट्ट की तरह पर्याप्त परिश्रम करना पड़ेगा।

अन्नं भट्ट का वैदुष्य इसी से ज्ञात होता है कि अपने अधीत विषयों का न केवल अध्यापन के द्वारा यश अर्जित किया अपितु प्रत्येक विषय में लोकोपाकारी, सरल सुबोध तथाशास्त्र के तत्त्वों के प्रदर्शक ग्रन्थों का प्रणयन कर संस्कृत जगत् एवं विषय विशेष के साहित्य को समृद्ध किया। न्याय में जहाँ तर्क संग्रह नामक ग्रन्थ का सरल एवं सुबोध भाषा में प्रणयन किया वहीं उसकी दीपिका नामक टीका से इस ग्रन्थ के प्रौढ़ स्वरूप का परिचय कराया। न्याय शास्त्र में तत्त्वचिन्तामणि की दीधिति की व्याख्या तथा तत्त्व चिन्तामणि आलोक की सिद्धाञ्जन नाम की व्याख्या लिखकर इन दोनों ग्रन्थों के गूढ़ स्वरूप का उद्घाटन कर अध्येताओं का मार्ग प्रशस्त किया।

व्याकरणशास्त्र में महाभाष्य की कैयट कृत प्रदीप टीका के उद्योतन व्याख्यान के द्वारा महाभाष्य के प्रमुख स्थलों का विवेचन करते हुए जहाँ उसके प्रमुख स्थलों पर अपना स्वतंत्र विचार स्थापित किया वहीं पाणिनि सूत्रों पर महत्त्वपूर्ण "पाणिनीसूत्र वृत्ति" नामक ग्रन्थ की रचना कर सूत्रों के अध्ययन का सरल स्वरूप स्थापित किया। पूर्व मीमांसा में न्याय सुधा व्याख्या 'राणको जीवनी' तथा तंत्र वार्तिक की सुबोधिनी टीका इनके पूर्वमीमांसा शास्त्र के प्रौढ़तम ज्ञान के उदाहरण है।

उत्तरमीमांसा शास्त्र में ब्रह्मसूत्रों पर ब्रह्मसूत्र वृत्ति मिताक्षरा तथा तत्त्वविवेक दीपन नामक ये दोनों ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त के बहुमूल्य धरोहर है। जिनमें आचार्य अन्नंभट्ट कम से कम शब्दों में मूल ग्रन्थ के भावों का पूर्ण स्वरूप प्रस्तुत कर ग्रन्थ को सुबोध बनाने में प्रकृष्ट एवं सफल प्रयत्न किया है।

ब्रह्मसूत्र वृत्ति: मिताक्षरा का साधारण परिचय

ब्रह्मसूत्र वृत्ति मिताक्षरा ब्रह्मसूत्रों पर एक ऐसा वृत्ति ग्रन्थ है जो सूत्रों के अर्थ-निर्देश के साथ-साथ उनके पूर्ण स्वरूप का ज्ञान कराता है। सूत्रों के प्रत्येक अंशों का स्वरूप,प्रकट करते हुए वृत्तिकार इस तरह उसके तात्पर्य को स्थापित करता है कि सामान्य विषय से संबंधित तत्त्व को जानने वाला व्यक्ति भी इनके तात्पर्य से अवगत हो जाता है यथा प्रथम अध्याय के प्रथम पाद का यह सूत्र[1] द्रष्टव्य है-

।। ईक्षतेर्नाशब्दम् ।। 5 ।।

[2]ब्रह्म लक्षणस्य प्रधानादावतिव्याप्तिपरिहारायेदमधिकरणम्। सांख्यादिपरिकल्पित प्रधानादिकं जगत्कारणं न भवति। तत्र हेतु: अशब्दमिति। हेतुगम विशेषणमेतत्, अशब्दत्वात् अवेदमूलत्वादिति। अवेदमूलत्वे हेतु: ईक्षतेरिति। "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इत्युपक्रम,"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" {छा0 6•2•1•3} तथा "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किञ्चन मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमान लोकानसृजत" {ऐत0 2•4•1•1•2} तथा क्वचित् षोडशकलं पुरुषं प्रकृत्य,"स ईक्षाञ्चके" "स प्राणमसृजत" {प्रश्न0 6•3•4} इत्यादि {प्रकरण} वाक्येषु सदादिशब्द प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मण ईक्षापूर्वकं तेज: प्रभृति स्रष्टृत्वप्रति ब्रह्मण ईक्षापूर्वकं तेज: प्रभृति स्रष्टृत्वप्रतिपादनादचेतनस्य ईक्षारहितस्य प्रधानस्य न जगत्कारणत्वं संभवतीति।

इस सूत्र में पूर्वसूत्र से पूर्वापरि भाव का विवेचन करते हुए सूत्रार्थ का विश्लेषण श्रुति वाक्यों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

1• ब्रह्मसूत्र - 1•1•5

2• मिताक्षरा - 1•1•5

मिताक्षरा वृत्ति ब्रह्मसूत्र के सभी शारीरक भाष्य से अलंकृत 555 सूत्रों तथा 191 अधिकरणों में प्राप्त होती हैं। प्रारम्भ के चारों सूत्रों [1] "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा", [2] "जन्माद्यस्ययत:", [3] "शास्त्रयोनित्वात्", [4] "तत्तुसमन्वयात्", में वृत्ति का स्वरूप विशद है। इनमें सूत्रों के तात्पर्य के साथ-साथ अन्य आक्षेपों का समाधान करते हुए अपने विवेचन के प्रमाण में श्रुति वाक्यों एवं भामतीकार आदि पूर्व मनीषियों के कथन का विशेष रूप से उल्लेख प्राप्त होता है। वाचस्पति मिश्र से सम्बन्धित इनके द्वारा प्रस्तुत विचार जिज्ञासाधिकरण का इस प्रकार है-

[5] " वाचस्पतिमिश्रानुसारिणस्तु -अत्र सूत्रे कर्तव्येति पदं नाध्याहर्तव्यम्, न चानुवादत्वदोष:। सप्रयोजनानुवादे दोषाभावात्। कर्तव्यपदाध्याहारमात्रेण च कथमनुवादत्वपरिहार: "विष्णुरूपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय" इत्यादौ तव्य प्रत्यये सत्यप्यनुवादत्वदर्शनात् अप्राप्तत्वेनानुवादत्वे , कर्तव्यपदाध्याहारं विनापि "तत्त्वमसि" (छा० 6·8·7·) "अयमात्मा ब्रह्म" (माण्डू०-2) (बृ० 2·5·19) (बृ० 4·4·5) इत्यादिवदनुवादत्वसम्भवान्नानुवादत्वपरिहारायाध्याहार:।

- -

1· ब्रह्मसूत्र - 1·1·1

2· ब्रह्मसूत्र - 1·1·2

3· ब्रह्मसूत्र - 1·1·3

4· ब्रह्मसूत्र - 1·1·4

5· मिताक्षरा - 1·1·1

अन्य सूत्रों पर मिताक्षरा वृत्ति का स्वरूप सामान्य ही है। यद्यपि सूत्रों के विषय के आधार पर पूर्वोक्त प्रारम्भिक चारों सूत्रों का व्याख्यान कलेवर दीर्घ है। यथा प्रथम अध्याय के तृतीय पाद का 33 वा सूत्र "भाव तु बादरायणोऽस्ति हि" इस पर, तथा इसी तरह कतिपय अन्य सूत्रों में भी विशद स्वरूप प्राप्त होता है।

जिस सूत्र का भाव अत्यधिक प्रकट करने के लिए अपेक्षित नहीं है वहाँ वृत्तिकार अनावश्यक विवेचन नहीं करता। मात्र एक दो पंक्तियों में ही अपना कथन पूर्ण समझता है यथा-

[1] ।। विवक्षित गुणोपपत्तेश्च ।।

[2] किन्च विवक्षिता उपासनायां उपादेयत्वेन उपदिष्टा ये गुणास्यसंकल्पादय: तेषां ब्रह्मण्येव युक्ततरत्वादित्यर्थ:।

इसी तरह बहुत से सूत्र है जिनमें न्यून ही मिताक्षरा वृत्ति का स्वरूप प्राप्त होता है।

अन्नंभट्ट ब्रह्मसूत्र के इस मिताक्षरा वृत्ति के प्रणयन में अपने पूर्वाचार्यों के साथ-साथ सबसे अधिक भामतीकार वाचस्पति मिश्र से अपने को प्रभावित मानते है अतएव इन्होंने मङ्गलाचरण के प्रतिज्ञा वाक्य में "वृत्तिं मिताक्षरा कुर्वे भामत्यादिमतानुगाम्"इस कथन के द्वारा स्वीकार किया है। भामत्यादि इस कथन में आदि पद के द्वारा कल्पतरू वैयासिक न्यायमाला आदि का भी स्वरूप इस वृत्ति ग्रन्थ को प्रभावित किया है ऐसा अध्ययन से ज्ञात होता है।

---

1. ब्रह्मसूत्र - 1.2.2

2. मिताक्षरा - 1.2.2

मिताक्षरा वृत्ति की भाषा सरल, सुबोध जहाँ दृष्टिगोचर होती है वहीं भावों को पूर्णरूप से हृदयङ्गम कराने में यह वृत्ति ग्रन्थ पूर्ण सफल हुआ है। अत: मिताक्षरा वृत्ति भाषा एवं विवेचन की दृष्टि से सामान्य अध्येताओं के लिए वह सुगम राजपथ है जिस पर चलकर सामान्य बुद्धि व्यक्ति ब्रह्मसूत्रों के दुर्गम ज्ञान को अल्प आयास से ही प्राप्त कर सकता है।

ब्रह्म सूत्रकार ने अपने इस प्रशस्तग्रन्थ को जिस तरह चार अध्यायों और 16 पादों में विभक्त किया है। तथा जिस रीति से सूत्रक्रमानुसार भगवान शंकराचार्य का शारीरक भाष्य है वही क्रम मिताक्षरा वृत्ति का भी है जिसमें प्रथम अध्याय का नाम समन्वयाध्याय है। इस अध्याय में सभी वेदान्त वाक्यों का एक एकमात्र अद्वैत, प्रत्यगभिन्न, ब्रह्म के ही प्रतिपादन में अन्वय है। इसका निरूपण किया गया है। इस अध्याय के प्रथम पाद में स्पष्ट ब्रह्म ज्ञापक श्रुतियों का और द्वितीय तथा तृतीय पाद में अस्पष्ट ब्रह्मभाव श्रुतियों का विचार है। अर्थात् द्वितीय में उपास्य ब्रह्म और तृतीय में ज्ञेय ब्रह्म का विचार किया गया है। चतुर्थपाद में संदिग्ध अजा अव्यक्त आदि शब्दार्थ विषयक विचार है। इस अध्याय के प्रथम पाद में 11 अधिकरणों तथा 31 सूत्रों पर विचार हुआ। द्वितीय पाद में सात अधिकरणों तथा 32 सूत्रों पर, तृतीय पाद में 13 अधिकरण 42 सूत्रों पर और चतुर्थ पाद 8 अधिकरण 29 सूत्रों पर सुन्दर विचार हुआ।

द्वितीय अध्याय में सभी प्रकार के विरोधाभासों का निराकरण किया गया है। इस लिए इस अध्याय का नाम अविरोधाध्याय है। इसके प्रथम पाद में अपने सिद्धान्त के प्रतिष्ठापानार्थ जहाँ स्मृति , तर्कादि विरोधों का परिहार किया गया है वहीं द्वितीय

पाद में विरुद्ध मतों में आगत दोषों को उद्घाटित कर उन मतों का खण्डन किया गया है। तृतीय पाद में एक मात्र ब्रह्म से ही आकाशादि अनेक तत्त्वों के उत्पत्ति का निरूपण है, और जीव विषयक श्रुतियों के विरोध को उपास्थापित कर उसका परिहार बतलाया गया है। चतुर्थ पाद में जो इन्द्रियों से सम्बन्धित श्रुति वाक्य हैं उनका विरोध दिखा कर उन श्रुतियों का भी परिहार निरूपित है। इस प्रकार इस अध्याय में विरोधी न्याय आदि दर्शनों का खण्डन कर युक्ति और प्रमाणों से वेदान्त सिद्धान्त का अविरोध पूर्ण रूप से प्रतिपादित हुआ है। इस अध्याय के प्रथम पाद में 13 अधिकरण एवं 37 सूत्र व्याख्यात हुए है। द्वितीय पाद में आठ अधिकरण तथा 45 सूत्रों का विवेचन हुआ है। तीसरे पाद में 17 अधिकरणों और 53 सूत्रों पर विशद विचार है। चौथे पाद में 9 अधिकरणों और 22 सूत्रों पर सुन्दर विचार प्रस्तुत हुआ है।

तृतीय अध्याय का नाम साधनाध्याय है जिसमें तत् और त्वम् पदार्थ शोधन पर विचार करके जीव और ब्रह्म के स्वरूप का निर्देश कर ब्रह्म साक्षात्कार के बहिरङ्ग उपाय यज्ञ आदि तथा अन्तरङ्ग उपाय शम दम निदिध्यासनादि का विचार प्रस्तुत हुआ है। ब्रह्म विद्या तथा मन के स्थिरता के सम्पादक अनेक उपासनाओं के विषय में भी विचार प्रस्तुत हुआ है। इसके प्रथम पाद में जीव के उत्पत्ति, स्वर्ग में भोग सम्बन्धी यमलोक में यमराज के आज्ञा से नरकभोग सम्बन्धी विषयों पर तथा स्वर्गादि लोक से आगत जीवों का आकाश आदि में स्थित होना निरूपित है। द्वितीय पद में जीव ब्रह्मभाव से सम्बन्धित विषयों का सुषुप्ति से सम्बन्धित विषयों का परमात्मा के निर्गुण एवं सगुण रूप का, परमात्मा की शक्तियों से भेद एवं अभेद तथा भेदोपासना और अभेदोपासना के उपदेश का अभिप्राय निरू-
-पित है और शरीरात्मसम्बन्ध का कथन के साथ-साथ कर्मफलदाता के रूप में परमात्मा का

ही प्रतिपादन हुआ है। तृतीय पाद में समस्त ब्रह्मविद्याओं का एकता तथा भेद प्रतीति का निराकरण हुआ। ब्रह्म के आनन्द आदि धर्मों का ही अध्याहार उचित है। प्रियशिरत्व रूप-कगत धर्मों का नहीं, इसका तथा पंचकोशो पर विचार हुआ। अनेक विद्याओं का कथन होने के साथ-साथ ब्रह्मादि लोकों का गमन पूर्णात्माओं के लिए यमलोकादि का गमन, पापात्माओं के लिए प्रतिपादित होने के साथ यज्ञ सम्बन्धी उपासनाएँ व्याख्यात हुई है। चौथे पाद में ज्ञान कर्म तथा भक्ति का निरूपण के साथ-साथ वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रम सम्बन्धी धर्म तथा क्रियाओं पर विशिष्ट निरूपण हुआ है। इस अध्याय में प्रथम पाद में 6 अधिकरणों तथा 27 सूत्रों पर, द्वितीय पाद में 8 अधिकरणों और 41 सूत्रों पर, तृतीय पाद में 36 अधिकरणों तथा 56 सूत्रों पर, चतुर्थपाद में 17 अधिकरणों और 52 सूत्रों में मिताक्षरा वृत्ति पूर्ण रूप से प्राप्त होती है।

चतुर्थ अध्याय वेदान्त दर्शन में फलाध्याय के नाम से जाना जाता है इसमें जीवन मुक्ति, विदेह मुक्ति, जीव की उत्क्रान्ति, पितृयान, देवयान मार्ग, सगुण और निर्गुण ब्रह्म के उपासना के फलों के तारतम्य पर भी विचार किया गया है। इसके प्रथम पाद में ब्रह्मविद्या का उपदेश प्राप्त कर उसके अभ्यास चिन्तन मनन निदिध्यासन आदि का निरूपण करते हुए ब्रह्म के साक्षात्कार के अनन्तर ही प्रारब्ध कर्म के भोग का अग्निहोत्रादि कर्मों का कर्माङ्ग उपासना से सम्बन्धित विषय विवेचन का ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्म की प्राप्ति बतायी गयी है। दूसरे पाद में अन्तःकरणों का सूक्ष्म विवेचनकर जीवात्मा की सूक्ष्मता, प्राणियों में स्थिति का विचार निष्काम ज्ञानी महात्माओं का शरीर जीव विच्छेद का तथा शरीर से निकलकर जीवात्मा का सूर्यरश्मियों में स्थित होना प्रतिपादित हुआ है। तीसरे पाद में ब्रह्मलोक में जाने के लिए अर्चिरादि मार्ग का प्रतिपादन करते हुए विद्युत लोक से ऊपर ब्रह्म लोक तक जीवात्मा के गमन का निरूपण परब्रह्म के प्राप्ति का वर्णन प्रतीकोपासक के अति-

को प्राप्त हुए जीव का कैवल्य प्राप्ति का निरूपण करते हुए अद्वैत के मत में मोक्ष का पूर्ण स्वरूप निरूपित करते हुए पुन: जन्म मृत्यु बन्धन के प्राप्ति का अभाव प्रतिपादित हुआ है। इसमें प्रथमपाद में 14 अधिकरणों तथा 19 सूत्रों पर, द्वितीय पाद में 11 अधिकरण और 21 सूत्रों पर, द्वितीय पद में 6 अधिकरण तथा 16 सूत्रों पर तथा चतुर्थ पाद में 7 अधिकरण और 22 सूत्रों पर मिताक्षरा वृत्ति पूर्णरूप में प्राप्त होती है।

इस प्रकार अध्याय एवं पादों के क्रम से इस मिताक्षरावृत्ति ग्रन्थ का व्याख्यान अन्नं भट्ट ने युक्तिपूर्णरीति से प्रस्तुत किया है।

- - -

§इ§ सूत्र की व्याख्या परम्परा में वृत्ति का स्थान, इसका लक्षण, मिताक्षरा में उसका समन्वय, भाष्य एवं वृत्ति में अन्तर का प्रदर्शन

1• सूत्र की व्याख्या परम्परा में वृत्ति का स्थान, इसका लक्षण

भारतीय संस्कृत साहित्य जगत् में प्रत्येक शास्त्रीय विषयों का एक प्रमाणिक स्वरूप प्रदान करने के लिए सूत्र संरचना की पद्धति विकसित हुयी। जिस वाक्य विशेष में कम से कम शब्द हो तथा जिसका स्वरूप असंदिग्ध हो, सिद्धान्त तत्व के अलावा अन्य वस्तु का विवेचन जिसमें न हों, जिसका स्वरूप अपने विषय में सर्वत्र प्रवृत्त होता हो तथा सिद्धान्त के अवबोध में जिसकी गति अबाधित हो जो श्रेष्ठ मनीषियों से अभिवन्द्य हो वह वाक्य विशेष सूत्र कहा जाता है।

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम् ।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ।।

सूत्रों की इस परम्परा में लगभग सभी शास्त्रीय विषयों में सूत्रग्रन्थ प्राप्त होते हैं। यथा व्याकरण में पाणिनी आदि आचार्यों के अष्टाध्यायी प्रभृत्ति सूत्र ग्रन्थ, प्राप्त होते है। यथा व्याकरण में पाणिनी आदि आचार्यों के अष्टाध्यायी प्रभृत्ति सूत्र ग्रन्थ, सांख्य दर्शन में सांख्य सूत्र , योग दर्शन में योगसूत्र , न्याय दर्शन में न्याय सूत्र , वैशेषिक में वैशेषिक सूत्र, पूर्व मीमांसा में मीमांसा सूत्र तथा वेदान्त में ब्रह्मसूत्र आदि सूत्र ग्रन्थ प्राप्त होते हैं।

1• पराशरीयपुराणस्य §1-8-14§

सूत्रों का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होने से उनके स्वरूपों को सामान्य रूप से विवेचन करने के लिए जिन पद्धतियों का विकास हुआ उनमें वार्तिक, विवरण तथा वृत्ति पद्धतियां विशेष रूप से विकसित हुई।

सूत्रों के स्वरूप के विस्तार में जो व्याख्यान उनके स्वरूप को विकसित करते हुए एक सिद्धान्त को स्थापित किया जो लगभग सूत्रों का सहायक ग्रन्थ के समान हो जाता है। वह व्याख्यान स्वरूप वार्तिक के नाम से जानागया । वार्तिक का लक्षण पराशर उपपुराण में इस प्रकार है-

उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते ।[1]

तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः ।।

जहाँ पर सूत्र में उक्त अर्थ की तात्पर्यतः प्राप्त शब्दतः अनुक्त अर्थ की तथा दो बार कथित की चिन्ता अर्थात् विचार जिस ग्रन्थ विशेष में है उस ग्रन्थ विशेष को §वाक्य विशेष को§ वार्तिक कहा जाता है। वार्तिक ग्रन्थ वाक्य शब्द के द्वारा भी जाने जाते हैं। इस प्रकार वाक्य वार्तिक, व्याख्यासूत्र, अनुतंत्र, अनुस्मृति, भाष्यसूत्र इत्यादि कई नामों में इनका व्यवहार अन्य ग्रन्थ विशेषों में द्रष्टव्य है। विशेषकर के पाणिनी व्याकरण के ग्रन्थों में वार्तिको के लिए उपर्युक्त शब्द व्यवहार विशेषरूप से हुआ है। वार्तिक सूत्र के तात्पर्य को विशद रूप में उपस्थित कर उसका एक पूरक है। उसका व्याख्यान नहीं । क्योंकि सूत्र के अर्थ का प्रदर्शन इसमें नहीं होता। इसीलिए "उक्त"आदि शब्द स्वरूप वार्तिक

---

1. परशर उपपुराण §18.16§

वार्तिक के लक्षण में दिखाये गये है। ब्रह्मसूत्रों से सम्बन्धित वार्तिक ग्रन्थों का उल्लेख कहीं भी नहीं प्राप्त होता है। सम्प्रति कोई भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है जो वार्तिकों के नाम से जाना जाता हो और ब्रह्मसूत्रों से सम्बन्धित कोई भी वार्तिक ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। पाणिनी अष्टाध्यायी के ऊपर कात्यायनादि के वार्तिक इस रूप में विशेषतया प्रसिद्ध है। बृहदारण्यक उपनिषद् के ऊपर सुरेश्वराचार्य ने वार्तिक ग्रन्थ की रचना की थी। जो अद्वैत वेदान्त से सम्बद्ध कही जा सकती है। इस विषय में आचार्य शंकर से पहले सुन्दर पाण्ड्य नामक आचार्य ने एक कारिकाबद्ध वार्तिकों की रचना की थी। शंकराचार्य ने तत्तुसमन्वात् इस सूत्र के भाष्य में इनके वार्तिक ग्रन्थ से तीन श्लोकों को उधृत किया है, जो इस प्रकार है-

1. गौण मिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्र देहादिबाधनात् ।
   सद्ब्रह्मात्मा हमित्येवं बोधे कार्यं कथंभवेत् ।।

2. अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात्प्राक्प्रमातृत्वमात्मन: ।
   अन्विष्ट: स्यात्प्रमातैव पाप्मदोषादि वर्जित: ।।

3. देहात्म प्रत्ययोमद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पित: ।
   लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वाऽऽत्मनिश्चयात् ।।

अन्य किसी वार्तिक ग्रन्थ का उल्लेख नहीं मिलता। यह भी वार्तिक ग्रन्थ सम्प्रति अपने पूर्ण स्वरूप में कहीं भी प्राप्त नहीं हुआ है।

विवरण वस्तुत: वह व्याख्यान विशेष है जिसको सामान्यता टीका शब्द से ही जाना जाता है। इस तरह के ग्रन्थ लगभग सभी दर्शनों में विशेषरूप से उल्लिखित है। अद्वैत वेदान्त में पद्मपादाचार्य की पञ्चपादिका के ऊपर प्रकाशात्मयति ने विवरण नामक व्याख्यान की संरचना की। यह विवरण लगभग अपने मूल ग्रन्थ के स्वरूप को प्रकट करता है। विवरण

व्याख्यान पद्धति न केवल सूत्रों में अपितु अन्य ग्रन्थों में भी भाष्य वार्तिक आदि में भी पायी जाती है।

वृत्ति ग्रन्थों का विवरण ब्रह्मसूत्रों में प्राचीन काल से ही हमें प्राप्त होता है। यद्यपि बहुत से वृत्ति ग्रन्थों का उल्लेख विशेषरूप से कहीं नहीं है। किन्तु रामानुज के "श्री भाष्य" में बौधायन, अ टंक, द्रमिल, गुरूदेव, कपर्दि, भरूचि आदि प्राचीन वेदान्ताचार्यों के वेदान्त ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र के वृत्ति के रूप में स्मृत हुए हैं। इनके कई सिद्धान्तों का उल्लेख श्री भाष्यकार ने अपने भाष्यग्रन्थ में किया है। बौधायन कृत वृत्तिग्रन्थ जिसका नाम"कृत-कोटि" था श्री भाष्यकार ने बड़े ही श्रद्धा से उसका उल्लेख किया है। वेदार्थ संग्रह में भी इनके सिद्धान्तों का उल्लेख रामनुज ने किया है।

रामानुजाचार्य ने वेदान्तसार नाम की एक टीका तथा वेदान्तदीप नाम की दूसरी टीका ब्रह्मसूत्रों पर की थी। इन दोनों में वेदान्तसार लघ्वक्षर तथा वेदान्तदीप विस्तृत स्वरूप वाला है। ये दोनों ग्रन्थ वृत्ति के समान होने से वृत्ति कहे जा सकते है। माध्व सम्प्रदाय 14 वीं शताब्दी में स्वामी आनन्दतीर्थ जो बाद में मध्वाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए उन्होंने ब्रह्मसूत्रों पर अनुव्याख्यान नामक अल्पाक्षर वृत्ति का प्रणयन किया था। 17 वीं शताब्दी के लगभग प्रसिद्ध अन्नं भट्ट ने मिताक्षरा नाम की वृत्ति का प्रणयन ब्रह्म-सूत्रों पर किया जो सारगर्भित, सरल, सुबोध होने के कारण अधिक लोकप्रियहुई।

वृत्ति शब्द के संस्कृत साहित्य में यद्यपि कई अर्थ माने गये हैं उनमें से सूत्र विषयक व्याख्यान भी एक अर्थ माना जाता है। विश्वकोषकार ने "वृत्तिर्विवरणाजीवको कौशि-क्यादिषु चक्ष्यते" इस कथन से व्याख्यान जीविका तथा कौशिकी आरभटी आदि में वृत्ति शब्द की प्रवृत्ति मानी है। इसी तरह मेदनीकोषकार ने "वृत्तिर्विवरणाजीव कौशिक्यादि प्रवर्तने" इस कथन से तथा त्रिकाण्डकोषकार के समान ही पूर्वोक्त अर्थो में वृत्ति शब्द

की प्रवृत्ति मानी। यद्यपि सामान्यतया विवरण, विवृत्ति तथा वृत्ति और व्याख्यान शब्द सामान्यतया पर्याय के रूप में समुपस्थित होते हैं। पूर्वोक्त कोषग्रन्थ के द्वारा इनकी पर्यायता स्पष्ट होती है। तथापि प्रत्येक स्थल में इनका पृथक उल्लेख एवं स्वरूप विधान: इन्हें आपस में पृथक करता है। वृत्ति शब्द को व्याख्यान शब्द से उल्लेख करते हुए पराशर उप उपुराण में इसका लक्षण लिखा गया है यथा-

[1] पदच्छेद: पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्य योजना ।
आक्षेपश्च समाधानं व्याख्यानं पञ्चलक्षणम् ।।

जिसमें सूत्र के पदों का विच्छेद किया गया हो, पदार्थों का पूर्णरूप से विवेचन हो, समस्त पदों के विग्रह का प्रदर्शन हो, वाक्य समुचित योजनाबद्ध हो, विषय सम्बन्धित आक्षेपों का कथन हो और उनका सिद्धान्त सम्मत समाधान हो, ऐसे विवेचक स्वरूप को व्याख्यान या वृत्ति कहते है। इसी ही विषय को पाणिनी सूत्रों के काशिकावृत्तिकार आचार्य वामन मङ्गलाचरण में प्रतिज्ञा वाक्य के कथन में वृत्ति का एक सामान्य सा लक्षण प्रस्तुत किया है यथा -

[2] "इष्टयुपसंख्यानवती शुद्धगणा विवृत गूढ़ सूत्रार्था: ।
व्युत्पन्नरूप सिद्धिवृत्तिरियं काशिका नाम ।।

जिस व्याख्यान विशेष में अभिलषित लक्ष्यों का सूत्र के द्वारा संग्रहित किया गया हो, जिसमें सूत्रों में परिगणित विषय वस्तु का यथार्थ विवेचन हों, सूत्रों के गूढ़ अर्थो का जिसमें सम्यक कथन हो, सूत्रों से सम्पादित सिद्धान्त के मूल तत्त्वों का जिसमें पूर्णरूप से सिद्धि हो उसे वृत्ति कहा जाता है।

- -

1· पराशर उप पुराण 18·17

2· काशिकावृत्ति मङ्गलाचरण

मिताक्षरा में उसका समन्वय

वृत्ति के सामान्यतया इन दो लक्षणों में प्रथम लक्षण व्याख्यान मात्र का परिलक्षित होता है। किन्तु द्वितीय लक्षण एक वृत्तिकार के द्वारा लिखा गया है इस लिए यह वृत्ति-मात्र के अधिक समीप में है। वैसे इन दोनों का लक्षण इस ग्रन्थ विशेष में स्पष्ट रूप से उप-लब्ध होता है। यद्यपि प्रथम लक्षण में आक्षेप तथा समाधान की स्थिति सभी सूत्रों में नहीं प्राप्त होती है। तथापि पदच्छेद पदार्थकथन, विग्रह तथा वाक्ययोजना अधिकांश सूत्रों में उपलब्ध होते हैं। इसके उदाहरण के रूप में ब्रह्मसूत्र - मिताक्षरा वृत्ति के द्वितीय सूत्र प्रस्तुत किया जा सकता है। इसमें पूर्वसूत्र [1] "जन्माद्यस्ययत:" से संगति के कथन के साथ सूत्र के पदों का विच्छेद, पदार्थों का कथन तथा विग्रह और वाक्यों का संयोजन अधोलिखित है-

[2] " शास्त्रयोनित्वात् "

"पूर्व जगत्कारणत्वेन सर्वज्ञत्वं ब्रह्मस्सिद्धं, तत्रैवार्थिक सर्वज्ञत्वे हेत्वन्तरमुच्यते(शास्त्र योनित्वादिति)। शास्त्र वेद:, तद्योनित्वं तत्कर्तृत्व, वेदकर्तृत्वादपि ब्रह्मणस्सर्वज्ञत्वमित्यर्थ:।"

[3] अथ वा वेदनित्यत्वद्ब्रह्मणो विश्वयोनिता ।
नेति शङ्कामपाकर्तु शास्त्रयोनित्वमुच्यते ।।

अस्मिन्पक्षे श्रौतप्रातिलतैव सङ्गति:। पूर्वसूत्रोक्त जगत्कारणत्वस्यैव समर्थनात् ।"अस्य महतो भूतस्य नि:श्वसितमेतदृग्वेदो, यजुर्वेदस्सामवेद:" (बृ0 2·4·10) इति वाक्यं विषय:।

1· ब्रह्मसूत्र 1·1·2

2· ब्रह्मसूत्र 1·1·3

3· ब्रह्मसूत्रमिताक्षरावृत्ति 1·1·3

अस्य, नित्यसिद्धस्य ब्रह्मणः निश्वास इवानायासेन वेदः सिद्ध इत्यर्थः। ब्रह्म वेदं न करोति, करोति वेति सन्देहे, न करोति, "वाचा विरूप नित्यया" इति नित्यत्वश्रवणात्। अस्मिन्मन्त्रे विरूपेति देवतां संबोध्य नित्यया वाचा स्तुतिं प्रेरयेत्येवं प्रार्थ्यते। नित्या वाग्वेद एव ।

इस सूत्र के वृत्ति में आक्षेप और समाधानभी समाहित हुए है। यथा-

[1] "ननु "यतो वाचो निवर्तन्ते"(तै02·9) इति श्रुतेः वेदवेद्यत्वमपि कथमिति चेन्न वेदान्तजन्यवृत्ति विषयत्वेन शास्त्रयोनित्वम्। चैतन्याविषयत्वेना प्रमेयत्वमिति श्रुत्युपपत्तेरिति।

इस तरह यह लक्षण सभी सूत्रों में संघटित होता है। कुछ सूत्रों में पूर्ण लक्षण के घटित न होने पर भी आंशिक स्वरूप प्राप्त होने के कारण वह वृत्ति के रूप में तथैव स्वीकार्य है जिसमें पूर्णलक्षण संघटत होता है। क्योंकि सूत्रस्थ विषयों का जितना विवेच्य स्थल होगा उतना ही विवेचन उसका सम्भव है उसमें अधिक नहीं। अतः वृत्ति के पूरे लक्षण सभी सूत्रों में प्राप्त नहीं होते। यथा निम्नांकित सूत्र को वृत्ति में कतिपय वृत्ति लक्षण ही प्राप्त होती है।

[2] " मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते"।

[3] "किन्च- आनन्दमयः परमात्मैव। कुतः यस्मान्मान्त्र वर्णिकमेव मन्त्रवर्णप्रतिपाद्यमेव "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै0 2·1·) इति मन्त्रवर्णप्रतिपाद्यं परं ब्रह्मैव, "अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः" (तै0 2·5) इत्यत्र गीयते प्रतिपाद्यते। मन्त्रब्राह्मणयोरेकार्थ्यादित्यर्थः।

इसी प्रकार अनेक सूत्र है जिनमें पूर्व लक्षण संघटित नहीं होता। फिर भी उन सूत्रों के व्याख्या विशेष वृत्ति माने जाते हैं।

1· ब्रह्मसूत्र मिताक्षरा वृत्ति 1·1·3

2· ब्रह्मसूत्र 1·1·6·15

3· मिताक्षरवृत्ति 1·1·6·15

वस्तुत: इस व्याख्यान लक्षण में पदच्छेद पदार्थकथन विग्रह एवं वाक्य संयोजन अधिक प्रधान है। आक्षेप एवं समाधान उनके अपेक्षा गौड़ है। अतएव सभी सूत्रों में ये प्राप्त नहीं होते।

द्वितीय आचार्य वामन कृत वृत्ति का काशिका वृत्ति के मङ्गलाचरण में स्थित पूर्वोक्त वृत्ति लक्षण ही इस मिताक्षरा वृत्ति ग्रन्थ में संघटित किया जा सकता है। इष्टुप संख्यानापि का तात्पर्य है कि सूत्र में असंग्रहित किन्तु आवश्यक विषय का संग्रहण जिसमें हो। इस वृत्ति में भी सूत्र में अनुलिखित किन्तु आवश्यक विवेचनों का संग्रह किया गया है। विशेष रूप से सूत्र प्रतिपादित विषय की परिपुष्टि में श्रुति वाक्यों का कथन इससे सम्बन्धित कहा जा सकता है। शुद्धगणा का तात्पर्य है सूत्रों में परिगणित विषयवस्तु का यथार्थ विवेचन जिसमें हों। किन्तु गूढ़ सूत्रार्थ का तात्पर्य है जिसमें सूत्र के गूढ़ अर्थों का पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया गया है। और व्युत्पन्नरूप सिद्धि का तात्पर्य है सम्पादित सिद्धान्त के मूल तत्त्वों का जिसमें पूर्ण रूप से सिद्धि हो। तथापि पूर्ण लक्षण युक्त प्रारम्भ के चारों सूत्रों में स्थित मिताक्षरा वृत्ति सभी लक्षणों से युक्त है। उदाहरणार्थ द्वितीय सूत्र के वृत्ति का कुछ अंश द्रष्टव्य है-

"प्रथमसूत्रे: ब्रह्ममीमांसाया: प्रतिज्ञातत्वात्, तस्याश्च लक्षणप्रमाणसमन्वयाविरोध साधनफल विषयतया अनेक विधत्वेऽपि, प्रथम ब्रह्मण:प्राधान्यात्तल्लक्षणार्थं सूत्रं "जन्माद्यस्य यत:" इति। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति (तै० 3·1) इत्येतद्वाक्यनिर्दिष्टानां जन्मस्थिति विलियानां जन्मादिति बहुव्रीहिणा निर्देश:। तत्र अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहौ, जन्मादीअस्येति[1]

1· मिताक्षरा वृत्ति 1·1·2

निर्देश:। तद्गुणसंविज्ञानेऽपि उद्भूतावयवभेदसमुदायस्यान्यपदार्थत्वे, स्त्रीलिंगपुंलिङ्गयो जन्मादि स्येति निर्देशास्स्यात्। सर्वत्र वर्णान्तराधिक्ये गौरवं स्यादिति सूत्रकारेण नपुंसकलिङ्गनिर्देश: कृत:। जन्मस्थितिभङ्गं समासार्थ:। तद्गुणसंविज्ञानश्च बहुव्रीहि:। पूर्व सूत्राद्ब्रह्म पदमनुवर्तते। तच्छब्दश्चाध्याहार्य:। तेन अस्य प्रपञ्चस्य यतस्सकाशाज्जन्मादि भवति, तद्ब्रह्मेति सूत्रार्थ:।

जिन सूत्रों में यह लक्षण पूर्णरूप से प्राप्त नहीं होता उनमें वही सूत्र आ सकते हैं। जिनमें आवश्यक स्वरूप का या लक्ष्यादि का उन्हीं में कथन हो, सूत्र का सामान्य अर्थ ही अभिलसित हो, जिनमें वस्तु का परिगणन न हो। अन्य सभी सूत्र के वृत्ति ग्रन्थ पूर्णरूप से इस लक्षण के अन्तर्गत आते है। न्यून लक्षण वाले सूत्र के वृत्ति ग्रन्थों में उदाहरण स्वरूप निम्नलिखित सूत्र का वृत्ति ग्रन्थ द्रष्टव्य है-

[1] "अतएव न देवता भूतञ्च"।

[2] "देवता च भूतं च देवताभूतं, एकवद्भावात्। द्वयमपि न वैश्वानरशब्दाभिधेयम्। कुत:?अत एव, पूर्वोक्तेभ्यो हेतुभ्य:। द्युमूर्धत्वादेरन्यत्रासामञ्जस्यादिति भाव:।

इसी तरह अन्य सूत्रों में भी न्यून लक्षण युक्त वृत्ति ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। यद्यपि सर्वलक्षणयुक्त ही व्याख्यान विशेष वृत्ति शब्द से गृहित होना चाहिए तथापि स्वरूप बोधक विशेष लक्षणों से युक्त सामान्य अङ्गों से हीन मनुष्यादि व्यक्तियों में मनुष्यादि शब्द व्यवहारवत् वृत्ति शब्द का व्यवहार उपर्युक्त व्याख्यान विशेष में ही करना अतार्किक नहीं कहा जा सकता। अत: पूर्ण तथा न्यून लक्षण युक्त समस्त ब्रह्मसूत्र के इस व्याख्यान विशेष में वृत्ति शब्द का व्यवहार सर्वथा उचित है। तथा इसका अपलाप करना अनुचित है।

1• ब्रह्मसूत्र -1•2•3•27

2• मिताक्षरावृत्ति 1•2•3•27

भाष्य एवं वृत्ति में अन्तर का प्रदर्शन

वृत्ति का लक्षण पूर्व में दर्शाया गया था कि जिसमें व्याख्येय पदों का विच्छेद, पदार्थों का कथन, समस्त वाक्यों का विग्रह प्रदर्शन, उचित वाक्ययोजना तथा सूत्र से सम्बन्धित विषय के आक्षेपों का स्थापन और उनका समाधान हो उसे वृत्ति या व्याख्यान कहते है-

पदच्छेद: पदार्थोक्तिविग्रहो वाक्ययोजना[1] ।

आक्षेपश्च समाधानं व्याख्यानं पञ्चलक्षणम् ।।

जिस व्याख्यान विशेष में सूत्रों के अनुसार सुतार्किक वाक्यों से सूत्र के अर्थ का वर्णन हो और स्वत: कथित प्रमाणिक पदों का जिसमें वर्णन हो उसे भाष्य के जानने वाले लोग भाष्य कहते है-

[2] "सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैस्सूत्रानुसारिभि: ।

स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदु: ।।"

वृत्ति ग्रन्थ सामान्यता सूत्रों के ऊपर तथा शास्त्रीय विषयविशेष के आचार्यों के कारिकाओं के ऊपर प्राप्त होती है। लगभग यही स्वरूप भाष्य का है। भाष्य भी सूत्रों पर ही प्राय: होते है। यद्यपि दोनों व्याख्यान विशेष हैं। दोनों में व्याख्येय वस्तुविशेष का पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया जाता है। दोनों में आक्षेप तथा समाधान का समायोजन होता है। विग्रह आदि का भी कथन भाष्य ग्रन्थों में भी वृत्ति के समान ही प्राय: उपलब्ध होता है फिर इन दोनों में कौन सा दृढतर भेद है। जिसके कारण एक व्याख्यानविशेष ही वृत्ति के नाम से तथा दूसरे व्याख्यान विशेष को भाष्य के नाम से जाना जाता है।

---

1. पराशर उप पुराण 18.17
2. पराशर उप पुराण 18.15

इस विषय में समीक्षात्मक विचार निम्नलिखितानुसार प्रस्तुत किया जा सकता है-

वृत्ति ग्रन्थ में सूत्रस्थ पदों के विच्छेद पदार्थों का कथन विग्रह प्रदर्शन वाक्य संयोजन, आक्षेप तथा समधान के होने पर भी सूत्रार्थों का वाधक एवं साधक प्रमाणों के साथ-साथ एक अपूर्व जिस अर्थ का प्रतिपादन होना चाहिए इसका प्रतिपादन न होकर सामान्य अर्थ का ही प्रतिपादन होता है। जैसे ब्रह्मसूत्र मिताक्षरा में ही चारों आदि के सूत्रों में एक विशद विचार के प्रस्तुति में उस अर्थविशेष की उपलब्धि नहीं हो पाती जो हमें शांकरभाष्य के विवेचनसे प्राप्त होती है। न ही किसी भी अन्य वृत्ति ग्रन्थ में उस अर्थ विशेष की पूर्ण विवेचन के साथ उपलब्धि होती है। अतएव वृत्ति ग्रन्थ एक स्वतंत्र अस्तित्व है। उसी तरह भाष्य ग्रन्थ का भी एक अपना स्वतंत्र अस्तित्व है।दोनों की किसी एक गतार्थता नहीं हो पाती। किन्तु भाष्य ग्रन्थ में सिद्धान्त रूप से प्रतिपादित अपने वाक्यों का भी व्याख्यान होता है, जो भाष्य के लक्षण के "स्वपदानि च वर्ण्यन्ते" इस पद समूह से ज्ञात होता है, उसका वृत्ति ग्रन्थ में पूर्ण अभाव विद्यमान है। क्योंकि वृत्ति ग्रन्थों में अपने से न तो किसी सिद्धान्त विशेष का कथन होता है और न ही अपने पदों का व्याख्यान। अपितु व्याख्येय वाक्य का पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया जाता है और उससे सम्बन्धित आक्षेपों का समाधान कर व्याख्येय ग्रन्थ से प्रतिपादित सिद्धान्तों का ही स्थापन किया जाता है।

इस तरह भाष्य तथा वृत्ति के व्याख्यान स्वरूप में कुछ नाममात्र की साम्यता होने पर भी आवश्यक तत्त्व विवेचन के स्वरूप में पर्याप्त भेद होने के कारण दोनों का स्वतंत्र अस्तितत्व मानना ही उचित है। और किसी भी सूत्रादि ग्रन्थों के भाष्य ग्रन्थों का अध्ययन तभी अधिक सुगम होता है जब वृत्ति ग्रन्थों का अध्ययन उसके पूर्व, पूर्णरूप से किया गया हो क्योंकि सूत्र से सम्बन्धित तात्पर्य और विवेच्य पदार्थ का पूर्ण सामान्य ज्ञान भाष्य से प्राप्त

त्य विशेष ज्ञान में सहायक होता है। अतः भाष्य जहाँ प्रौढ़ ज्ञान के लिए आवश्यक है, वहीं सामान्य ज्ञानार्थ वृत्तिग्रन्थ नितान्त आवश्यक है।

ब्रह्मसूत्रों पर भाष्यग्रन्थ

ब्रह्मसूत्रों पर लगभग सभी प्रमुख आचार्यों के व्याख्यान है और वे व्याख्यान भाष्य के लक्षण के अनुसार होने के कारण भाष्य के नाम से जाने जाते हैं। आचार्य शंकर ने अद्वैत मत की स्थाना के लिए ब्रह्सूत्रों पर शारीरक भाष्य की संरचना की थी तो वहीं आचार्य भास्कर भेदाभेद मत की स्थापना के लिए भास्कर भाष्य की संरचना की। आचार्य रमानुज विशिष्टाद्वैत मत की स्थापना के लिए श्री भाष्य नामक एक विशिष्ट भाष्य ग्रन्थ का प्रणयन किया। द्वैत मत के स्थापना के लिए ब्रह्मसूत्रों पर मध्वाचार्य के पूर्णप्रज्ञ भाष्य का महत्त्व विशेषरूप से उल्लेखनीय है। वेदान्त परिजात् नाम के भाष्य के द्वारा निम्बकाचार्य ने जैसे द्वैताद्वैत मत की स्थापना के लिए संरचना की। उसी तरह आचार्य श्रीकंठ ने शैव विशिष्टाद्वैत मत की स्थाना के लिए शैव भाष्य का तथा वीरशैव विशिष्टाद्वैत मत की स्थापना के लिए "श्रीकरभाष्य" का आचार्य श्रीपति ने प्रणयन किया। आचार्यवल्लभ ने अणुभाष्य की संरचना करके शुद्धाद्वैत मत की स्थापना की। विज्ञानभिक्षु का विज्ञानामृत भाष्य ब्रह्मसूत्रों पर अविभागाद्वैत मत की स्थापनार्थ संरचित हुआ। इसी तरह "अनित्यभेदाभेद" मत की स्थापना "गोविन्द भाष्य" के द्वारा आचार्य बलदेव ने की। इस तरह ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य ग्रन्थों की परम्परा में पूर्वोक्त भाष्य ग्रन्थ हमें प्राप्त होते हैं। यद्यपि आधुनिक विचारक

हिन्दी भाषा में अनेक व्याख्यान ग्रन्थों का प्रणयन किया किन्तु भाष्य के लक्षण को धारण न करते वे व्याख्यान ग्रन्थ भाष्य नहीं कहे जा सकते। अतः ब्रह्मसूत्रों पर पूर्वोक्त भाष्यों का ही विवरण हमें प्राप्त होता है अन्य का नहीं।

0 0 0 0 0

0 0 0

0

प्रथम अध्याय

(अ) वेदान्त दर्शन के उद्भव और विकास का संक्षिप्त दिग्दर्शन

(आ) वेदान्त का अर्थ एवं प्रतिपाद्य

(अ) वेदान्त दर्शन के उद्भव और विकास का संक्षिप्त दिग्दर्शन

दर्शन तत्त्व व्यक्ति के जीवन को उत्तमोत्तम स्वरूप प्रदान करने का वह महत्त्वपूर्ण ज्ञान निधि है जिसके द्वारा जिज्ञासु व्यक्ति है ~~जिसके द्वारा~~ संसार एवं परमार्थ का यथार्थ ज्ञान करके जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त करता है। दर्शन न केवल परम तत्त्व के प्रापक है, अपितु सामान्य व्यावहारिक जीवन में भी व्यक्ति पूर्ण जीवन दृढ़ इच्छा शक्ति से युक्त हो सफल बनाता है। भारतीय दर्शन में सांख्य आदि षड् दर्शनों में वेदान्त दर्शन सबसे विशिष्ट है। क्योंकि इसमें ब्रह्म, जीव जगत्, तथा माया के स्वरूप का पूर्ण विवेचन के साथ परम तत्त्व का पूर्ण ज्ञान विद्यमान है। व्यक्ति उसके अध्ययन से अपने जीवन को जीवन-मुक्त की अवस्था तक पहुँचा देता है।

वेदान्त दर्शन के तत्त्व हमें वैदिक संहित ग्रन्थों से ही प्राप्त होते हैं। जहाँ भी परब्रह्म का वर्णन है वहाँ उसके विराट स्वरूप के वर्णन में हमें वेदान्त दर्शन की कई सिद्धान्त सम्मत बाते प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद संहिता का यह मन्त्रांश इस प्रकार है।

"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधिविश्वेनिषेदुः"।[1]

इस श्रुति वाक्य में ब्रह्म में ही सभी वेदों को तथा देवताओं को अधिष्ठित बतलाया गया है यहाँ आकाशवाणी व्योम शब्द का प्रयोग ब्रह्म के लिए आया है। इस तरह के अन्य बहुतसे उदाहरण हमें संहिता ग्रन्थ के प्राप्त होते है जिनमें वेदान्त दर्शन के तत्त्व किसी न किसी रूप में प्राप्त होते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों तथा आरण्यक ग्रन्थों में भी वेदान्त दर्शन के तत्त्व कहीं आंशिक रूप में तो कही अपनी विशिष्टता के लिए प्राप्त

---

1. ऋ०सं० 1·164·39

होते हैं। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य एवं जनक का विवरण अनेक वेदान्त के दार्शनिक तत्त्वों से भरा हुआ है। तैत्तरीय ब्राह्मण और ऐतरेय ब्राह्मण में भी हमें वेदान्त दर्शन के तत्त्व हमें प्राप्त होते हैं। यथा-

[1] शतब्राह्मण-"यथा ब्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वैवमयन्तरात्मा-
त्पुरुषो हिरण्मय:॥1.63.2॥

[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण-"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश: संभूत:"॥तै० 2.1॥

[3] ऐतरेय ब्राह्मण-"तस्यै देवातावै हविर्गृहीतं स्थान्ता ध्यायेद्वषट् करिष्यन्।"

आरण्यक ग्रन्थों में तो उपासना के नियमों के साथ-साथ आत्मदर्शन का भी स्वरूप प्राप्त होता है जिनमें ब्रह्म का विवेचन तो है ही साथ-साथ उनके उपासनाओं का भी तथा अन्य श्रवणादि नियमों का विवेचन प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ आरण्यक ग्रन्थों के अंश इस प्रकार है-

[4] "ऐत ह्येवं बहवृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एवमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगा:"।

उपनिषद् ग्रन्थ तो ब्रह्म प्रतिपादन या यो कहा जाय कि न केवल वेदान्त दर्शन के अपितु सभी दर्शनों के तत्त्व किसी न किसी रूप में उपनिषद् ग्रन्थों से प्राप्त होते हैं। अत: वेदान्त दर्शन का तो मूल स्रोत उपनिषदों को ही माना जाता है।

---

1. श० ब्रा० ॥10.6.3.2॥
2. तै० ब्राह्मण ॥2-1॥
3. ऐ० ब्रा० ॥3.8.1॥
4. ऐ० आ० ॥3.2.3.12॥

होते हैं। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य एवं जनक का विवरण अनेक वेदान्त के दार्शनिक तत्त्वों से भरा हुआ है। तैत्तरीय ब्राह्मण और ऐतरेय ब्राह्मण में भी हमें वेदान्त दर्शन के तत्त्व हमें प्राप्त होते है। यथा-

[1] शतब्राह्मण - "यथा व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वैवमयन्तरात्मा त्पुरुषो हिरण्यमय: {1·63·2}

[2] तैतिरीय ब्राह्मण- "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश: संभूत:" {तै0 2·1}

[3] ऐतरेय ब्राह्मण -"तस्यै देवातावै हविर्गृहीतं स्यान्तां ध्यायेद्वषट् करिण्यन्"।

आरण्यकग्रन्थों में तो उपासना के नियामों के साथ-साथ आत्मदर्शन का भी स्वरूप प्राप्त होता है जिनमें ब्रह्म का विवेचन तो है ही साथ-साथ उनके उपासनाओं का भी तथा अन्य श्रवणादि नियमों का विवेचन प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ आरण्यक ग्रन्थों के कुछ अंश इस प्रकार है-

उपनिषद् ग्रन्थ तो ब्रह्म प्रतिपादन या यो कहा जाय कि न केवल वेदान्त दर्शन के अपितु सभी दर्शनों के तत्त्व किसी न किसी रूप में उपनिषद ग्रन्थों से प्राप्त होते है। अत: वेदान्त दर्शन का तो मूल स्रोत उपनिषदों को ही माना जाता है।

1· शा0 ब्रा0 {10·6·3·2}

2· तै0 ब्राह्मण {2·1}

3· ऐ0 ब्रा0 {3·8·1}

4· ऐ0 आ0 {3·2·3·12}

वेदों को ब्रह्म का स्वांस स्वरूप माना गया है। वृहदारण्यक में लिखा हुआ है
[1] अस्य महतो भूतस्य नि:श्वसितमेजघद्दृग्वेद:। इस तरह ब्रह्म के समान ही वेद भी नित्य स्वरूप को धारण किये हुए है इसी लिए वैयाकरण शब्द को नित्य मानते है, उनके यहा शब्द ही ब्रह्म है। अद्वैत मत में भी पारमार्थिक नित्यता न होने पर भी व्यावहारिक नित्यता स्वीकार की जा सकती है। इस प्रकार वेदान्त दर्शन तत्त्व का उद्भव सृष्टि के क्रम में वेदों के संहिताग्रन्थों में जहाँ उसका बीज स्थापित हुआ वहीं ब्राह्मण ग्रन्थों में वह स्फुटित हो शैशवा अवस्था को पारकर आरण्यक ग्रन्थों में कौमार्या व्यतीत कर उपनिषद् ग्रन्थों में पूर्व यौवनावस्था के साथ-साथ प्रौढ़ता को प्राप्तकरता है।

वेदान्त शब्द से उपनिषदों का ग्रहण इस लिए होता है क्योंकि इनमें ब्रह्म, जगत् माया आदि तत्त्वों का विशेष रूप से न केवल वर्णन है अपितु उनका तात्त्विक विवेचन भी हुआ है। इन विषयों से सम्बन्धित कोई भी ऐसा प्रश्न नहीं है जिसको उठाकर पूर्णतया समाधान न किया गया हो। उदाहरणार्थ नचिकेतोपख्यान कठोपनिषद् को रखा जा सकता है जिसमें नचिकेता के माध्यम से यम के द्वारा ब्रह्म विद्या का पूरा रहस्य प्रकाशित किया गया। इसी तरह लगभग सभी उपनिषदों में वेदान्त दर्शन के दार्शनिक तत्त्वों का पूरा विवेचन किया गया है। ऐसा कोई भी वेदान्त दर्शन से सम्बन्धित ग्रन्थ नहीं है जिसमें अपने कथन के पुष्टि के लिए इन उपनिषद् ग्रन्थों के उद्धरण की आवश्यकता न हो। अतएव वेदों के चरम भाग होने के कारण, ब्रह्म तत्त्व के प्रतिपादन होने के कारण उपनिषद् वेदान्त शब्द से गृहीत होते हैं।

1• वृह० 2•4•10

आचार्य शंकर ने 11उपनिषदों को अपने मत में प्रमाण के लिए स्वीकार किया और उनमें वैदुष्य पूर्ण भाष्य की भी संरचना की है। ये उपनिषद् है- ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय , श्वेताश्वर, वृहदारण्यक तथा छान्दोग्य। इनके वर्ण्य विषय में यद्यपि अनेक तत्त्वों का विवेचन हुआ है। जिसमें अनेक विद्यायें भी हैं परन्तु आत्मतत्त्व का विवेचन सबसे अधिक हुआ है। ऐसा कोई उपनिषद् नहीं है जिसमें आत्म तत्व का विवरण प्रस्तुत न किया गया हो इसी लिए उपनिषद् ब्रह्मविद्या के रूपमेंभी स्वीकार किये जाते है।

ईश उपनिषद् में प्रारम्भ में ही सम्पूर्ण संसार को ईश्वर से व्याप्त कहा गया है अर्थात् ब्रह्म स्वरूप में ही यह संसार अस्थिर है। क्योंकि ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य वस्तु है ही नहीं। ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन दो रूपों में हमें प्राप्त होता है एक तो उपास्य देव परब्रह्म परमेश्वर एक अव्यक्त अचिन्त्य निर्गुण परम ब्रह्म। ईशावासोपनिषद् में उपास्य देव परमेश्वर का स्वरूप विशेष रूप से इन दो श्रुतियों में पूर्णरूप से प्रकट किया गया है-

[1]अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।
तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य वाह्यत: ।।

- -

1. ईशा उपनिषद् (4-5)

वह परमेश्वर अचल और एक होते हुए भी मन से तीव्र गतिवाला है। जहाँ तक मन की गति है उसके भी आगे वह विद्यमान है। सबके आदि ज्ञानस्वरूप इस परमेश्वर को इन्द्रादि देवता भी नहीं जान पाये। वह परमात्मा दूसरों दौड़ने वालों को स्थित रहते हुए भी अतिक्रमण कर जाता है। उनके होने पर ही उन्हीं के शक्ति से वायु आदि देवता जलवर्षण आदि को क्रिया सम्पादन में समर्थ होतेरहते है। वह परमेश्वर चलते हुए भी नहीं चलते, दूर रहते हुए भी अत्यन्त समीप है, वह इस संसार के अन्दर भरा हुआ है और इस संसार के बाहर भी चारों तरफ स्थित है। इसी प्रकार विद्यातत्त्व तथा अविद्या तत्त्व को उपासना का स्वरूप हमें प्राप्त होता है।

केन उपनिषद् में शिष्य इन्द्रियादि के विषय में जब अनेक प्रकार का प्रश्न करता है तो गुरु उन इन्द्रियादि की स्फूर्ति देने वाले उस परम ब्रह्म का निरूपण करता है।उस ब्रह्म को मन वाणी कर्म के द्वारा अप्राप्त बताया गया है। वही ब्रह्म अत्यन्त विलक्षण है केवल अंश अंशी के रूप में जीवात्मा एवं ब्रह्म का अभेद ज्ञान से व्यतिरिक्त भी ब्रह्म ज्ञान का एक विलक्षण स्वरूप है जिसे जानना आवश्यक है।

कठोपनिषद् में यमराज के द्वारा नचिकेता को शिष्य के रूप में उपस्थित करके ब्रह्म विद्या का उपदेश कराया गया है। ब्रह्म के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है

[1] अणोरणीयान्महतो महीया नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतु: पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मन: ।।

- -

1. कठोपनिषद् [1.2.20]

यह ब्रह्म जीवात्मा के हृदय गुहा में स्थित सूक्ष्मातिसूक्ष्म, बड़ा से बड़ा है। इस परमात्मा की महिमा को कामना रहित, चिन्तारहित साधक ही सर्वाधार परब्रह्म परमेश्वर की कृपा से देखता है। परमेश्वर के ईश्वर के रूप में कई स्वरूपों का वर्णन इस उपनिषद् में है। जीवात्मा के गति का भी वर्णन तथा परमेश्वर के स्वरूप व्यापकता तथा निर्लिप्तता का भी वर्णन है। यमराज परब्रह्म के सर्वप्रकाशता का भी प्रतिपादन करता है। इस वृक्ष की प्राप्ति ब्रह्मविद्या और योगविधि के द्वारा ही सम्भव है।

प्रश्नोपनिषद् में परमेश्वर के संकल्प से ही सम्पूर्ण सृष्टि का कथन पूरी सृष्टि प्रक्रिया का स्वरूप दिया गया है। जीवात्मा और परमात्मा के पूर्ण स्वरूप को प्रकट किया गया है। जहाँ अक्षर ब्रह्म ओंकार की उपासना का वर्णन है वहीं परमात्म स्वरूप का विवेचन के साथ उनकी उपासना की आवश्यकता बतायी गयी है।

मुण्डकोपनिषद् में अपरा और परा के विद्याओं के विषय का पहले विवेचन है तदन्तर संसार के सृष्टि के उत्पत्ति क्रम का स्पष्ट वर्णन है। परमेश्वर के पूरे स्वरूप का निर्देश धनुष तथा वाण के रूपक के द्वारा लक्ष वेधने का प्रकार बताया गया है।[1]

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ।।

ब्रह्म का स्वरूप आगे वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह परब्रह्म परमेश्वर सब कुछ जानने वाला, सबको जानने वाला जिसकी जगत में यह महिमा है कि वह परमेश्वर आकाश में ब्रह्मलोक में स्वरूप से स्थित सबके प्राण और शरीर का नेता मनोमय हृदय कमल का आश्रय

---

1. मुण्डकोपनिषद् 2:4

लेकर अन्नमय शरीर में प्रतिष्ठित है। यह आनन्द रूप अविनाशी परब्रह्म जो सर्वत्र प्रकाशित है। धीर विज्ञान जन अपने विज्ञान से उसका साक्षात्कार करते हैं।[1] सम्पूर्ण विश्व को ब्रह्म से व्याप्त बताया है- 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्'। ब्रह्म का स्वरूप विवेचन करते समय ऐसा अद्भुत वर्णन है कि वहाँ पर उसी के प्रकाश सब कुछ प्रकाशित हो रहा है अन्य प्रकाश वहाँ नहीं है- 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। सम्पूर्ण जगत् रूपी वृक्ष में जीव और ब्रह्म को दो पक्षियों के रूप में वर्णन कर एक को कर्मफल भीरुता के रूप में एक को निर्लिप्त भाव में स्थित निरूपित किया गया है।[2] आत्मा की प्राप्ति के विषय में इस उपनिषद् में कहा गया है कि जिन्होंने वेदान्त के विज्ञान से परम अर्थ को पूर्णरूप से जान लिया जो कर्मफल के त्याग और आसक्ति से रहित होकर शुद्ध अन्त:करण वाले हो गये है वे ही साधक गण है परब्रह्म को प्राप्त करके अन्तकाल में ब्रह्मलीन को प्राप्त करके सर्वथा मुक्त हो जाते हैं।[3]

माण्डूक्य उपनिषद् में तीनों कालों से अतीत सम्पूर्ण ~~पदार्थों को ओंकार का स्वरूप~~ पदार्थों को ओंकार का स्वरूप बता कर ओंकार और परब्रह्म को एक रूप में प्रतिपादित किया गया है इसमें परब्रह्म के चार चरणों का वर्णन है। प्रथम चरण में स्थूल जगत और वैश्वानर का, द्वितीय चरण में प्रकाशमय हिरण्यगर्भ रूपतैजस का, तीसरे चरण में विज्ञान आनन्दमय प्राज्ञ का और चतुर्थ चरण में निर्गुण निराकार निर्विशेष स्वरूप का वर्णन किया गया है। ओंकार से ही परब्रह्म के प्रथम तीन चरणों का वर्णन करके निर्विशेष ॐ से निर्गुण निराकार परब्रह्म का प्रतिपादन इस उपनिषद् में किया गया है।

---

1. य: सर्वज्ञ: सर्वविद् यस्यैष महिता भुवि ।
   दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठित: ।।
   मनोमय: प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं संनिधाय ।
   तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद् विभाति।। "मुण्ड 2·7"

ऐतरेयोपनिषद् में प्रतीकात्मक वर्णन के द्वारा परमात्मा के सृष्टि विषय संकल्प के साथ क्रमश: सृष्टि क्रम का उल्लेख करके अन्त में ब्रह्म के पूर्ण स्वरूप का विवेचन प्राप्त होता है। परमात्मा एकाकी था। उसके अलावा किसी भी क्रिया को करने वाला कोई भी नहीं था। उसने इच्छा किया कि मैं सम्पूर्ण लोकों की रचना करू और वह सम्पूर्णलोकों की रचना की।[1] सम्पूर्ण सृष्टि को ब्रह्म में ही प्रतिष्ठित इस उपनिषद्कार ने बताते हुए कहा है कि यह ब्रह्म , इन्द्र, प्रजापति, सभी देवता, ये पाँचों महाभूत क्षुद्र एवं मिश्रित बीज अन्य चारों प्रकार के शरीरधारी जीव और जो भी प्राणी विशेष है वे सब के सब परमात्मा से ही शक्ति प्राप्त करके अपने कार्य को सम्पादन करने में समर्थ होते है, इसलिए उस परमात्मा में ही प्रतिष्ठित है। यह ब्रह्माण्ड परमात्मा के शक्ति से युक्त है और परमात्मा ही जो इस लोक का अतिक्रमण करके प्रज्ञान आत्मस्वरूप ब्रह्म के सहित सम्पूर्ण कामनायों को प्राप्त करके अर्थात् कर्मफल भोग के समाप्तिपश्चात् अपने स्वरूप में अवस्थित हो, आनन्दमय स्वरूप को पहचान कर आप्तकाम हो करके मोक्ष को प्राप्त करता है।[2]

---

1. ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किन्चन मिषत स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति।। 1 ।।
स इमौल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मस्यापोऽदोऽम्भ: परेण दिवं द्यौ: प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचय: पृथ्वीमरो या अधास्तान्ता आप: ।। 2 ।।
"एतोरेयोपनिषद् 1·1·1·,2"

2. एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेत सर्वे देवा इमानि च पन्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपा ज्योतीषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजनीतराणि चेत-राणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चेद्भिज्जानि चा श्वागाव: पुरुषा हस्तिनो यत्किंचेद प्राणिजङ्गाम पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्व तत्प्रज्ञानेत्रम्।प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोक: प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ।
स एतेन प्रज्ञेनात्मनास्मल्लोका दुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृता: समभवत्समभवत् ।। 4 ।। "ऐतरेयोपनिषद् 3·1·3·4"

तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्मानन्द वल्ली में ब्रह्म के विषय में बताकर सभी कोशों का स्वरूप बताया गया है और परमब्रह्म के सत्ता के विषय में पर्याप्त प्रकाश डालते हुए सृष्टि का क्रम बताया गया है। ब्रह्म प्राप्ति का आनन्द कितना होता है इस पर पूर्णरूप से प्रकाश डालते हुये सैकड़ो प्रजापतियों का जो आनन्द होता है वह ब्रह्म प्राप्ति का एक आनन्द माना गया है और उस आनन्द को कामना रहित श्रोत्रीय ज्ञानी ब्रह्म के स्वरूप को साक्षात् करके प्राप्त कर लेता है वह परमात्मा जो सम्पूर्ण संसार में मनुष्यों में सूर्य आदियों में वह एक ही है जो व्यक्ति इस लोक को पार करके अन्नमय प्राणमय मनोमय और विज्ञानमय आत्मा को प्राप्त होता है वह एक उत्तम स्वरूप को धारण करता है अर्थात् ब्रह्मरूप का अनुभव करता है।[1]

भृगुवल्ली में भृगु को उसके पिता वरूण ब्रह्म का उपदेश करते समय अन्न, प्राण, मन तथा विज्ञान के विषय में बताकर अन्त में परब्रह्म के विषय में बताते है। भार्गवी वारूणी विद्या में आनन्दमय परमात्मा ही ब्रह्म है इसका निरूपण किया गया है।[2]

---

1. ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः। स य एवंविदस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति । {तैत्तीरीयोपनिषद 2·8}
2. आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। सैषा भार्गवी वारूणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। स य एवं वेद प्रतिष्ठिति अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान कीर्त्या।
{तैत्तिरीयोपनिषद् -3·6}

श्वेताश्वर उपनिषद् में जहाँ जगत के कारणतायों पर विचार गया है वहाँ वास्त-विक कारण परब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति का कथन है। जीवात्मा परमात्मा से प्रेरित होकर सभी योनियों में घूमता हुआ अन्त में ब्रह्म को ही प्राप्त करता है। इसका बड़ा सटीक वर्णन है।[1] यह संसार का बन्धन परमात्मा के स्वरूप को न जानने के कारण ही होता है, उसके जानने के बाद कभी भी कर्मबन्धन नहीं प्राप्त होते। जीवात्मा के प्रकृति में तथा पर-ब्रह्म के स्वरूप को जान लेने के पश्चात् परमात्मा का ध्यान कर लेने पर निश्चित ही विशुद्ध कैवल्य पद की प्राप्ति हो जाती है।[2] इसलिए मुख्य तत्त्व परमात्मा ही माना जाता है जैसे अरण्य मन्थन के द्वारा अग्नि को प्रकट किया जाता है उसी तरह श्रवण मनन निदिध्यासन आदि के द्वारा परम ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त होती है। उस परमा-त्मा को ढूंढने की आवश्यकता नहीं है वह अपने ही अन्दर है। किन्तु इसकी प्राप्ति के लिए श्रवण आदि साधनों का अभ्यास आवश्यक है। यह परमात्मा अत्यन्त सूक्ष्म से भी

- -

1. सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते
   अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।
   पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा
   जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ।। 6 ।। श्वेताश्वर

2. ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानि:
   क्षीणै: क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणि: ।
   तस्याभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे
   विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकाम: ।। 1 ।। श्वेताश्वर 2.11.

सूक्ष्म है और बड़ा से भी बड़ा है। प्रत्येक जीव के हृदयरूपी गुफा में विद्यमान रहता है जो व्यक्ति उस संकल्प रहित परब्रह्म का साक्षात करता है वह सभी प्रकार के दुःखों से विमुक्त होकर परमात्मा को प्राप्त करता है।[1]

यह परमात्मा जो अजन्मा है, नित्य है, सर्वत्र व्यापक होने के कारण सभी जगह विद्यमान है। जो अजर है , पुराण है, जो वर्ण रूप रहित होता हुआ भी अपने शक्ति के द्वारा सृष्टि के रूप में अनेक रूपों को धारण करता है। अन्त में यह सम्पूर्ण विश्व जिसमें विलिन हो जाता है वह अद्वैत परब्रह्म है। इस परब्रह्म की दो प्रकृतिया है। उनमें एक प्रकृति का स्वरूप इस प्रकार है-

[2]अजामेकां लोहितशुक्ल कृष्णां

बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते

जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ 5 ॥

---

1. अणोरणीयान् महतो महीया -

नात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।

तमक्रतुं पश्यति वीतशोको

धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥ श्वेताश्वर -3.20॥

2. श्वेताश्वरोपनिषद् -4.5.

यह प्रकृति ही इस परब्रह्म की परमशक्ति माया है और इस माया से उपहित नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप परब्रह्म सृष्टि का मुख्य कारण माना जाता है यह मायाप्रजा को उत्पन्न करने वाली है। सत , रज, तम तीनों गुण वाली एक अजन्मा है। और एक अजन्मा जीव इसमें आसक्त होकर इसका सेवन करता है किन्तु अन्य अजन्मा ज्ञानी पुरुष इस भोगी गयी माया को त्याग देता है। दूसरी प्रकृति के रूप में यह सम्पूर्ण जीव समुदाय ही माना जाता है। अतएव गीता में भी [1] अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।। जीव,रूप समूह को प्रकृति के रूप में स्वीकार किया गया है। इस माया को प्रकृति के रूप में स्वीकार करते हुए माया के संचालक के रूप में परब्रह्म को कहा गया है और उनके अवयवभूत कार्य कारण समुदाय से इस सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त बताया गया है।[2] सगुण रूप में इस परमात्मा की उपासना का सुन्दर वर्णन करते हुए निर्गुण परमात्मा का भी सुन्दर विवेचन दृष्टिगोचर होता है। विद्या और अविद्या ये दोनों ब्रह्म के ही शासन में है और इन दोनोंके ऊपर परमेश्वर का भी शासन है। यह अविद्या विनाशशील जडवर्ग है तथा अविनाशी आत्मा विद्या है। और इस विद्या तथा अविद्या का प्रशासक इन दोनों से सर्वथा भिन्न पर ब्रह्म है। इस ब्रह्म को जानने से ही देवता ऋषि आदि ब्रह्ममयहुये। इस लिए इसकी प्राप्ति प्राणी मात्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जीव के सूक्ष्मशरीर से सम्बन्धित स्वरूप का वर्णन करते हुये इस उपनिषद् में यह बताया गया है कि अंगुष्ठमात्र परिमाण वाला सूर्य के समान प्रकाशित, संकल्प तथा अहंकार से

---

1. गीता 7.5

2. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ।।

युक्त बुद्धि गुण, तथा अपने स्वाभाविक गुणों के कारण हो जो सर्वथा अग्रगामी है ऐसा ही जीव अन्य जीवों के द्वारा देखा जाता है। इस जीव की शरीर सम्बन्ध से आवागमन कर्म बन्धन से ही होता है और उस कर्म बन्धन के समाप्त होने पर परब्रह्म के स्वरूप की प्राप्ति होती है। बिना ब्रह्म साक्षात्कार के मोक्ष प्राप्त करना सम्भव नहीं है। सगुण उपासकों के लिए भगवत् अर्पण बुद्धि अत्यन्त आवश्यक है उससे कर्म बन्धनों का नाश होता है। उस परमात्मा की अहेतुकी कृपा से संसार के प्रति विराग होने पर श्रवण, मनन, निदिध्यासन क्रियाओं के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप के साक्षात्कार की अनुभूति होने पर जीव तथा ब्रह्म में एकता का ज्ञान होने के पश्चात् ब्रह्म का पूर्ण अनुभव होता है।[1] यह ब्रह्म निष्कल है, निष्क्रिय है, निरवद्य है, निरञ्जन है। अमृत के परम सेतु के रूप में पूर्णरूप से स्थित है। उसी के साक्षात्कार से अमृत तत्त्व (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। बिना ब्रह्म ज्ञान के संसारिक दुःखों की निवृत्ति सम्भव ही नहीं है। यह परब्रह्म ज्ञान गुरू की कृपा से प्राप्त होता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में जहाँ ब्रह्म के अतिरिक्त अनेक व्यावहारिक पक्षों को याज्ञिय सम्बन्धी कार्यों को तथा वैदिक याज्ञ अनुष्ठान से सम्बन्धित आचार प्रणाली का विवेचन किया गया है वहीं अन्य देवताओं का भी विवेचन पर्याप्त रूप में आया है ब्रह्म विद्या उपनिषद् का मुख्य प्रतिपाद्य विषय होने के कारण ब्रह्म का विषय विशेष के विवेचन में बीच-बीच में कई स्थलों पर उसका सुन्दर विचार प्रस्तुत हुआ है। इस उपनिषद् में 6 अध्याय है और प्रत्येक अध्याय में कई ब्राह्मण है यथा प्रथम में 6, द्वितीय में 6, तृतीय में 9 चतुर्थ

---

1. निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ।।

श्वेताश्वतर 6.19

में 6 , पंचम में 15 तथा छठे अध्याय में पाँच ब्राह्मण है। प्रथम अध्याय में सृष्टि क्रम का कथन जहाँ पर निरूपित है वहाँ ब्रह्म का विवेचन किया गया है। उस परमात्मा से सम्बन्धी पूर्ण विषय का विवेचन करते हुए लिखा है कि सृष्टि से पूर्व यह जगत अव्याकृति पश्चात् नामरूप में व्यक्त हुआ और वह इस संसार को व्यक्त करने वाला प्रत्येक शरीर में नख से लेकर प्रत्येक अवयव में प्रविष्ट है। शरीर की जितने भी इन्द्रिय व्यापार हैसब उसी से संचालित है और वह तत्त्वविशेष आत्मा है और उस आत्मा का ज्ञान होने पर इस सम्पूर्ण जगत् का ज्ञान हो जाता है। इसमें अन्नमय मनोमय तथा विज्ञानमय इत्यादिकोशों का प्रतीकात्मक रीति से वर्णन किया गया है। प्रत्येक इन्द्रियाँ कैसे अपना कार्य करती है,उनके अधिष्ठाता या उनके मुख्य अवान्तर स्वरूप कौन कौनहैसे इनका पूर्णरूप से प्रतिपादन किया गया है और इनमें परमतत्त्व के रूप में ब्रहमतत्त्व को ही स्वीकार किया गया है।

द्वितीय अध्याय में गार्ग्य और अजातशत्रु के संवाद में ब्रह्म निर्णय पर एक पूरा शास्त्रार्थ है जिसमें अजातशत्रु गार्ग्य के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म केस्वरूपों का प्रतिख्यान करके परमतत्त्व का पूर्ण ज्ञान कराते हैं। इन्होंने बताया है कि यह ब्रह्म से इस संसार की उत्पत्ति उसी तरह हुई है जैसे मकड़ी अपने तन्तुओं से जाल का निर्माण करती है। इसलिए सम्पूर्ण वस्तुजात ब्रह्म से ही है और ब्रह्म ही परम तत्त्व है।

- -

1. आ नखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद्विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाये त न पश्यन्ति। अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव प्राणोनाम भवति। वदन्वाक्पश्यंश्चक्षुः श्रृण्वन्श्रोत्रं मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव। स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवत्यात्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति।

(बृहदारण्यक 1.4.7)

याज्ञवल्क्य मैत्रीयी संवाद में याज्ञवल्क्य के द्वारा ब्रह्म तत्त्व का प्रौढ़ विवेचन हुआ है। याज्ञवल्क्य बताते है कि जिस प्रकार सभी जलों का आश्रय स्थान समुद्र, स्पर्शों का त्वग इन्द्रिय, गन्धों का घ्राणेन्द्रिय, रसों का रसेन्द्रिय, शब्दों का स्रोत इन्द्रिय, तथा संकल्पों का मन है तथा सम्पूर्ण विद्यायों का हृदय कर्मों का हस्त इत्यादि हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् का मुख्य विराम स्थान ब्रह्म है। क्योंकि ब्रह्म में ही विलिन हो जाते है। इस संवाद में आत्मा के कई स्वरूपों का सुन्दर विवेचन हुआ हैं और शास्त्रार्थ के रूप में उसके पूर्ण रूप को प्रयोगिक रीति से बताया गया है। जनक और याज्ञवल्क्य के प्रसंग में भी याज्ञवल्क्य गार्गी संवाद में ब्रह्म पर प्रकाश डाला गया है। याज्ञवल्क्य ने ब्रह्म के स्वरूप के साथ-साथ मोक्ष के स्वरूप को भी प्रदर्शित किया है और जागृत अवस्था में तथा सुषुप्ति अवस्था में आत्मा की स्वरूप की स्थिति बतायी।

चतुर्थ अध्याय में जहाँ मरणोन्मुख जीव की दशा का वर्णन है वहाँ पर उसका लिङ्ग रूप में वर्णन करने के साथ आत्मज्ञान का महत्त्व, ब्रह्म दर्शन की विधि और ब्रह्मनिष्ठा में अधिक शास्त्र अभ्यास को बाधक के रूप में निरूपित करते हुए आत्मा के मूल तत्त्व को विवेचन किया गया है। इसी तरह से पाँचवे तथा छठवें अध्याय में भी आत्मतत्त्व पर प्रकाश डाला गया है किन्तु अधिकांश विवेचन यज्ञ से सम्बन्धित कार्यों के ऊपर आधारित है। इस प्रकार इस उपनिषद् में सृष्टि क्रम, ब्रह्म, जीव तथा ईश्वर के रूप में वेदान्त दर्शन से सम्बन्धित विषयों का यथार्थ एवं विशद विवेचन हुआ है।

छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्म के स्वरूप की विवेचना कई प्रसङ्गों में प्राप्त होती है, इसके प्रथम अध्याय में ओंकार की ब्रह्म के रूप में जहाँ विवेचना है वहीं इसके उपासना

का भी वर्णन है, ओम् को परब्रह्म के रूप में परिकल्पना करके इसकी स्तुति करते हुए छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि [1] इस ओंकार से ही यह वेदत्रयी प्रवृत्त होती है, ओम् का ही उच्चारण करके अध्वर्यु आश्रावण कर्म करता है, ओम् का उच्चारण करके होता शंसन कर्म करता है, ओम् का उच्चारण करके उद्गान करता है। इस अक्षर की पूजा के लिए सम्पूर्ण वैदिक कर्म और इसी महिमा और रस के द्वारा सभी कर्म प्रवृत्त होते है।

द्वितीय अध्याय में यद्यपि अधिक विषय सामवेद से सम्बन्धित उपासना एवं याज्ञीय विषयों से है, फिर भी ओंकार की उपासना पर ब्रह्म के रूप में इसमें भी विवेचन हुआ है। तृतीय अध्याय में गायत्री के द्वारा ब्रह्म की उपासना का स्वरूप बताते हुए ब्रह्म ज्ञान के प्रति उसकी आवश्यकता बतायी गयी है। गायत्री की व्याख्या करते हुए उपनिषद्कार कहते है कि गायत्री ही सम्पूर्ण प्राणीवर्ग है, जो कुछ स्थावर व जंगम प्राणी दृष्टिगोचर होते है सब गायत्री ही है। वाक् ही गायत्री है और वाक् ही ये सब प्राणी है यह गायत्री गायन करने वाले सभी प्राणियों की पालन करती है रक्षा करती गान करती है। ब्रह्म के वर्णन में जहाँ कार्य ब्रह्म तथा शुद्ध ब्रह्म दोनों का निरूपण है वहीं वृक्ष में कौन कौन से आरोपित गुण होते हैं तथा ब्रह्म की उपासना की स्वरूप क्या है, सर्वदृष्टि से इसका उपासना कैसे करना चाहिए उन सबके विषय में बताया गया है। सम्पूर्णविश्व को ब्रह्म के रूप में

- -

1· तेनेयं त्रयी विद्या वर्तत ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्यो त्युद्गायत्येतस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन ।। छान्दोग्य ।·।·9॥

2· गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किं च वाग्वै गायत्री वाग्वा इदं सर्वं भूत गायति च त्रायते च ।। छन्दोग्य 3·12·1॥

बताते हुए कहा है कि-

[1]सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत् ।

अथ खलु क्रतुमय: पुरुषो यथाक्रतुरस्मिंल्लोके

पुरुषो भवति तथेत: प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत ।। 1 ।।

वह ब्रह्म मनोमय प्राण शरीर, प्रकाश स्वरूप, सत्य संकल्प आकाश शरीर, सर्वकर्मा सर्वकाम, सर्वगन्ध, इस सम्पूर्ण जगत को सब ओर से व्याप्त करने वाला वाक् रहित और सम्भ्रम शून्य है। जो एतत् गुण विशिष्ट आत्मा है हृदय कमल में स्थित रहता है और वहीं ब्रह्म शरीर के नष्ट होने तक ज्ञान होने पर अपने स्वरूप में अवस्थित हो परमब्रह्म से एकत्व को प्राप्त करता है। उस ब्रह्म की अनुभूति अनेक प्रकार के श्रवणादि साधनों के द्वारा प्राप्त होती है। चतुर्थ अध्याय में राज जानश्रुति एवं रैक्व के संवाद में संवर्ग विद्या के द्वारा ब्रह्म की अराधना बताया है। सत्यकामोपाख्यान में अध्ययन करते समय सत्यकाम ब्रह्मविद्या के चारों पादों का विवेचन पृथक-पृथक व्यक्तियों के द्वारा प्राप्त करता है, यह बताया गया है। यह प्रथमपाद का ज्ञान वृषभ के द्वारा तथा द्वितीय पाद अग्नि के द्वारा तृतीय पाद हंस के द्वारा तथा चतुर्थ पाद मद्गु के द्वारा प्राप्त करता है। इसमें ब्रह्म के जहाँ प्रथम पाद में चारों दिशाओं से सम्बन्धित प्रकाशवती कलाओं को बताया गया है, वहीं द्वितीय पाद में अग्नि के द्वारा पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्युलोक, तथा समुद्र की कला से ब्रह्म को निरूपित किया गया है। ब्रह्म के तृतीय पाद हंस के द्वारा अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा तथा विद्युत रूप कला से ब्रह्म का निरूपण किया गया है। इसी तरह मद्गु के द्वारा ब्रह्म के चतुर्थ पाद का प्राण, चक्षु, श्रोत तथा मन रूपी कला से निरूपण किया गया है। इस तरह सत्यकाम

---

1. छान्दोग्य [3·14·1]

प्रकृति के निरूपण द्वारा सभी ब्रह्म के तत्त्वों को ग्रहण करता है। पाँचवे अध्याय में यद्यपि कर्मकाण्ड का स्वरूप ही ज्यादा विवेचित है। ब्रह्म का साक्षात् विवेचन नहीं है। किन्तु छठवें अध्याय में आरुणि के पुत्र श्वेतकेतु के प्रसंग में तत्त्वमसि इत्यादि वाक्यों के द्वारा ब्रह्म का आत्मा के साथ अभेद को बताते हुए निर्गुण निराकार शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वरूप ब्रह्म का वर्णन हुआ है। इसी तरह सातवें अध्याय में जहाँ अनेक मनोवैज्ञानिक स्थितियों का विवेचन है वहीं आठवें अध्याय में दहर पुण्डरीक में ब्रह्म की उपासना पर बल दिया गया है। इन्द्र और प्रजापति के संवाद में आत्मज्ञान के स्वरूप का प्रतिपादन हुआ। इसमें आत्मा के विषय में कहा गया है कि जो चक्षुरादि इन्द्रियों से हम प्रत्येक अपनी-अपनी क्रियायों को करते हैं उन क्रियायों का संचालक आत्मा ही है उस आत्मा के न रहने पर ये इन्द्रियाँ अपना काम नहीं कर सकती। जो ये भोग इस ब्रह्म लोक में है उन्हें देखता हुआ इस आत्मा की उपासना करता है वह सम्पूर्ण लोक के समस्त भोगों को प्राप्त करता है तथा आचार्यों के उपभोग के आधार पर परब्रह्म का साक्षात्कार का अनुभव करता हुआ समस्त भोगों को प्राप्त करता है।[1]

---

1. य एते ब्रह्मलोके तंवा एतं देवा आत्मानमुपसते तस्मात्तेषा सर्वे च लोका आत्ता: सर्वे च कामा: स सर्वा श्चलोकानाप्नोति सर्वाश्च कामान्यस्मात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापति रुवाच प्रजापतिरुवाच ।। 6 ।।

(छान्दोग्य 8·12·6)

इस इन्द्र तथा प्रजापति के संवाद में प्रजापति इन्द्र को स्वप्न पुरूष का, सुषुप्त पुरूष का तथा मर्त्यशरीर आदि का उपदेश करके कारणरूप से आकाश संज्ञक ब्रह्म का उपदेश किया। आकाश संज्ञक ब्रह्म का जहाँ उपदेश है वहाँ पर ये बताया गया है कि ये नाम और रूप जिसके अन्तर्गत है वह ब्रह्म है, वह अमृत है, वहीं आत्मा है। आत्मा को ही सम्पूर्ण स्थलों में स्वीकार किया गया है। क्योंकि आत्मा के अलावा कोई भी क्रिया संचालित नहीं हो पाती ।[1]

इस तरह प्रत्येक उपनिषदों में जहाँ अनेक विषयों का जो अध्यात्मिक तत्त्वों से सम्बन्धित है उनका विवेचन हुआ उनमें सबसे अधिक मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म, जीव, तथा जगत् का ही विवरण अधिक प्रस्तुत हुआ है। अन्यविषयों के विवेचन गौड़ रूप में हुआ है। मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्म को मानकर ही अधिक उचित कहा जा सकता है।

- -

1. आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते तदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृत स आत्मा प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्रह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि स हाहं यशसां यशः श्येतमदत्कमदत्कश्येतं बिन्दु माभिगां लिन्दु माभिगाम्।

§ छान्दोग्य 8•14•1§

0 0 0

ब्रह्मसूत्र-

उपनिषद् के सम्पूर्ण तत्वों का अतिशय मन्थन करके भगवान् बादारायण ने ब्रह्मसूत्रों की संरचना की। ब्रह्मसूत्रों की संख्या के विषय में यद्यपि पर्याप्त मतभेद है क्योंकि प्रत्येक आचार्य के भाष्य ग्रन्थ में सूत्रों की संख्या न्यूनाधिक पायी जाती है। आचार्य शंकर ने 555, रामानुज ने 545,आचार्य माधव ने 564, निम्बकाचार्य 549, श्रीकंठ 545 , तथा वल्लभ 554 सूत्रों में भाष्य ग्रन्थ की संरचना की। इन ब्रह्मसूत्रों को चार अध्यायोंमें विभक्त किया गया है। प्रत्येक अध्याय में चार पाद है। इन चारों अध्यायों के नाम भी पृथक-पृथक है। प्रथम अध्याय का नाम समन्वय अध्याय है इस अध्याय में सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का साक्षात् या परम्परा के द्वारा प्रत्यगभिन्न अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य दिखलया गया है। इस अध्याय के प्रथम पाद में स्पष्ट ब्रह्म लिङ्ग युक्त वाक्यों का विशेष रूप से विचार किया गया है। इस पाद के प्रथम चार सूत्र अथातो ब्रह्म जिज्ञासा, जन्माद्यस्य यत:, शास्त्रयोनित्वात तत्तुसमन्वयात, ये विषय की दृष्टि से अत्यधिक महत्व शाली है। इन्हें चतु:सूत्री भी कहते है। कई आचार्य केवल इन चारों सूत्रों का ही व्याख्यान किया है। सभी व्याख्याकार इन चार सूत्रों की व्याख्या में वैशिष्ट्य दिखलाना अपना गौरव समझते हैं। उसी अध्याय के द्वितीय पाद में उपास्य ब्रह्म विषयक उन वाक्यों का विशेष विचार है जिनमें ब्रह्म स्वरूप प्रतिपादक अस्पष्ट चिन्हों का उल्लेख है। तृतीय पाद में ब्रह्म के स्वरूप के प्रतिपादक स्पष्ट हेतुओं से युक्त वाक्यों का जो ब्रह्म के स्वरूप का पूर्णतया प्रतिपादन करते हैं उनका विचार हुआ है। चतुर्थपाद में अज, अव्यक्तादि उपनिषद् में स्थित पदों के अर्थ का विचार किया गया है। द्वितीय अध्याय का नाम अविभागाध्याय है। इस अध्याय में स्मृतिग्रन्थों में ब्रह्म के विषय में तर्कादि के द्वारा सम्भावित विरोध का परिहार करके ब्रह्म के साथ उन वाक्यों

का विरोध नहीं है इसे स्पष्ट किया गया है। इस अध्याय के प्रत्येक पाद एक विशेष स्वरूप को लेकर के है। प्रथम पाद में जहाँ सांख्यादि स्मृतियों के सिद्धान्तों का खण्डन है वहीं द्वितीय पाद जिसे तर्क पाद के नाम से जाना जाता है जिसमें सांख्य, वैशेषिक जैन, सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद, पाशुपत और पाञ्चरात्रमतों का युक्तियों से क्रमशः खण्डन करके वेदान्त मत की स्थापना की गई है। प्रथम एवं द्वितीय दोनों पादों में आचार्य बादारायण ने अपनी तर्कपूर्ण युक्तियों की सूक्ष्मता, समर्थता तथा व्यापकता के बल पर प्रतिपक्षियों के सिद्धान्तों का जिस प्रकार समीक्षण किया है वह विद्वानों के आदर का विषय है। तृतीय एवं चतुर्थ पादों में महाभूत सृष्टि, जीव, तथा इन्द्रिय विषय श्रुतियों के उपस्थित विरोध का परिहार किया गया है। तृतीय अध्याय का नाम "साधनाध्याय" है। जो वेदान्त सम्मत साधनों का विचार करता है। परलोकगमन, तत्त्वपदार्थ परिशोधन, सगुण विद्या का निरूपण तथा निर्गुण ब्रह्मविद्या के बहिरङ्ग साधन आश्रम, धर्म, यज्ञ दानादि तथा अंतरङ्ग शम, दम, निदिध्यासन आदि का निरूपण प्रत्येक पाद में क्रमशः किया गया है। चतुर्थ अध्याय का नाम फलाध्याय है। इस अध्याय में सगुण विद्या एवं निर्गुण विद्या के फलों का सम्पूर्ण अंगो एवं उपाङ्गों के साथ विवेचन किया गया है।

सूत्रों का स्वरूप इस प्रकार है कि कुछ स्थल को छोड़कर उनसे विभिन्न तात्पर्य की प्राप्ति व्याख्या के द्वारा अपने आप सम्भव हो जाती है। इसीलिए इस ग्रन्थ के अनेक भाष्य हुए और उनके द्वारा अनेकों सिद्धान्तों की स्थापना हुई। ब्रह्मसूत्रों का ऐसा कोई तात्पर्य सर्वमान्य के रूप में कहना कठिन होगा जो सभी दार्शनिकों को पूर्णरूप से मान्य हो। किन्तु यह एक सिद्धान्त सभी के द्वारा अनुमोदित हुआ है कि ब्रह्म सत्य है, और वही सम्पूर्ण जगत् का उपादान कारण है।

क्योंकि यह अर्थ सूत्रोंसेसाक्षात् इस तरह से प्राप्त होता है कि शब्दों में खिंचतान करके कोई दूसरा अर्थ नहीं प्राप्त किया जा सकता। बाकी के अन्य सूत्रों में कुछ ऐसी स्थिति बनती है कि व्याख्यान के माध्यम से सिद्धान्त का परिवर्तन सम्भव हो सकता है। इसीलिए अनेक धर्माचार्यों ने उन सूत्रों के व्याख्यान से अपने अनुसार व्याख्यान किये।

ब्रह्मसूत्र में प्राप्त वृत्ति ग्रन्थों का विवेचन

ब्रह्मसूत्रों पर सर्वप्रथम जिस व्याख्यान शैली की उपलब्धि होती है, वह वृत्ति है। वृत्ति में सूत्रों के पदच्छेद, पदार्थ कथन, वाक्य संयोजन और उपस्थित आक्षेपों का समाधान होता है। ब्रह्मसूत्रों पर जिस वृत्ति ग्रन्थ का उल्लेख प्राप्त होता है वह है बौधायन कृत "कृतकोटि" नाम की वृत्ति। आचार्य बौधायन ने इस वृत्ति ग्रन्थ में ब्रह्मसूत्रों के स्वरूपों का अभिष्ट व्याख्यान किया था इसका उल्लेख आचार्य रामानुज के श्रीभाष्य ग्रन्थ में प्राप्त होता है। सम्भवत: आचार्य बौधायन के वृत्ति ग्रन्थ में विशिष्टाद्वैत से सम्बन्धित व्याख्यान रहा हो और वह व्याख्यान आचार्य शंकर के लिए उपयुक्त न रहा हो। इसलिए आचार्य शंकर ने अपने भाष्य ग्रन्थ में उसका उल्लेख नहीं किया। यह वृत्ति ग्रन्थ इतना महत्त्वपूर्ण था कि आचार्य रामानुज ने न केवल इसमें प्राप्त मतों का उल्लेख करके अपने भाष्य ग्रन्थ को सजाया अपितु आचार्यबौधायन के प्रति अप्रतिम श्रद्धा भी व्यक्त की। दुर्भाग्य है कि यह अनुपम ग्रन्थ अधुना उपलब्ध नहीं है।

रामानुज के "श्री भाष्य" में और भी कई वृत्ति ग्रन्थों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिनमें आचार्य टंक, आचार्य द्रमिल, गुरूदेव, कपर्दि, तथा भारूचि आदि प्राचीन वेदान्ताचार्यों के वृत्ति ग्रन्थ प्रमुख हैं। आचार्य रामानुज का समय 11 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से लेकर 12 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध (1037-1137) तक माना जाता है, और शंकराचार्य का समय 8 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर 9 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध (788-820) है। रामानुज तथा शंकराचार्य में लगभग 2 शताब्दियों का अन्तर है। इससे यह भी आशंका की जा सकती है कि ये वृत्ति ग्रन्थ आचार्य शंकर के बाद तथा आचार्य रामानुज के पूर्व लिखे गये है। किन्तु यह कहना उचित नहीं होगा क्योंकि बौधायन यदि शंकर के पश्चात् वृत्ति ग्रन्थ लिखा होता तो उनके वृत्ति ग्रन्थ में आचार्य शंकर के मतों का भी पूर्व या उत्तर पक्ष के रूप में उल्लेख होता और उसका विवेचन आचार्य रामानुज के "श्रीभाष्य" में अवश्य प्राप्त होता। इसलिए यह कहना ही युक्ति संगत होगा कि बौधायन कृत वृत्तिग्रन्थ तथा अन्य पूर्वलिखित वृत्ति ग्रन्थ जिनका स्मरण आचार्य रामानुज ने किया है, ये सभी आचार्य शंकर से प्राचीन है। द्रविणाचार्य ने तो छान्दोग्योपनिषद् में एक विशाल भाष्य की भी रचना की थी जिसका उल्लेख आचार्य शंकर ने माण्डूक्योपनिषद् के भाष्य में आगमविद् कहकर उल्लेख किया। आचार्य शंकर ने सुन्दरपाण्ड्यकृत वार्तिकों को तो "तत्तुसमन्वायात्" के भाष्य में उल्लेख करके आचार्य सुन्दर पाड्य को वृत्तिकार के रूप में या वार्तिककार के रूप में पूर्णरूप से मान्यता दी है। इनके अलावा अन्य किसी प्राचीन वृत्तिकार का उल्लेख लगभग न के समान है। कुछ ऐसे भी वृत्तिग्रन्थ है जो आचार्य शंकर के पश्चात् लिखे गये है जिनमें आचार्य रामानुज की वेदान्तसार तथा वेदान्त द्वीप ये दोनों ग्रन्थ हैं इसमें वेदान्तसार में लघ्वक्षर तथा वेदान्त दीप में वेदान्तसार से विस्तृत रूप में वृत्ति ग्रन्थ है। इस

तरह रामानुज ने दो वृत्ति ग्रन्थों की संरचना की। इनके मतानुयायियों में अन्य कोई भी आचार्य ब्रह्मसूत्रों पर वृत्ति ग्रन्थ लिखने का प्रयास नहीं किया। 16वीं शताब्दी के रंगरामानुजाचार्य अपवाद कहे जा सकते है क्योंकि इन्हों ने ब्रह्म सूत्रों पर एक व्याख्यान लिखा है जो ब्रह्मसूत्रों पर भी है और वृत्ति ग्रन्थों के श्रेणी में रखा जा सकता है। इसके पहले 12 वीं शताब्दो में आचार्य मध्व ने जो पहले आनन्दतीर्थ नाम से विख्यात थे। इन्होंने ब्रह्मसूत्रों पर अल्पाक्षरों वाली "अनुव्याख्यान" नाम का वृत्ति ग्रन्थ लिखा जिस पर अनेक टीकायें भी हुई। इनके अलावा जिस महत्त्वपूर्ण वृत्ति ग्रन्थ की उपलब्धि होती है वह सत्रहवीं शताब्दी के लगभग लिखा गया आचार्य अन्नंभट्ट कृत मिताक्षरा वृत्ति ग्रन्थ जिसमें आचार्य शंकर के अनुसार सभी 555 सूत्रों में उन्हीं के मार्ग का अनुसरण करते हुए यह वृत्ति ग्रन्थ है । इसमें प्रत्येक सूत्रों का अर्थोपस्थापन इतना अच्छा है कि अध्येता को शीघ्र ही ग्रन्थ से अपेक्षित बोध प्राप्त हो जाता है। इसके अनन्तर वृत्ति ग्रन्थ अपने स्वरूप में लब्ध नहीं होते। यद्यपि कुछ टीकायें यथा कथञ्चित रूप में अवश्य प्राप्त होती है किन्तु वे वृत्ति ग्रन्थों की परम्परा में स्वीकार नहीं हो सकती इसका सबसे बड़ा कारण न केवल स्वरूप भेद है अपितु शैली का भी बहुत बड़ा अन्तर है।

ब्रह्मसूत्रों में प्राप्त भाष्यग्रन्थ और उनके प्रमुख व्याख्याकार

वेदान्त दर्शन में सबसे महत्त्वपूर्ण वे ग्रन्थ है जो भाष्य ग्रन्थ के नाम से जाने जाते है। इन्हीं भाष्यों के कारण ही वेदान्त दर्शन को कई शाखायें या प्रभेद हो गये हैं। ब्रह्म-सूत्रों में जो प्रमुख भाष्य हमें उपलब्ध होते हैं उनका कालक्रम के अनुसार विवरण इस प्रकार है-

1• शारीरकभाष्य – आचार्य शंकर ने ही सर्वप्रथम ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य ग्रन्थ की संरचना की। इनके भाष्य ग्रन्थ में ब्रह्मसूत्र के 555 सूत्रों का व्याख्यान हुआ है। यद्यपि मीमांसा दर्शन के अलावा सभी दर्शन के सूत्रों का व्याख्यान अध्याय एवं पाद के रूप में पार्थक्य दिखलाकर वर्णन किया गया है और उसी क्रम के अनुसार उन पर भाष्य या व्याख्या ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। तथापि पूर्वमीमांसा के समान ही उत्तर मीमांसा अर्थात् ब्रह्मसूत्रों में भी विषय के आधार पर अधिकरणों का एक अतिरिक्त प्रभेद बनाकर उनका व्याख्यान आचार्य शंकर ने किया। ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनोंदर्शन वेदों के सबसे अधिक निकट है इसलिए इनका प्रतिपाद्य विषय के आधार पर कुछ कुछ सूत्रों के समूह को लेकर कहीं कहीं पर एक ही सूत्र को लेकर अधिकरण नाम का प्रभेद स्वीकार किया गयाहै। अधिकरण का लक्षण इस प्रकार प्राचीन मनीषियों के द्वारा किया गया है–

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम् ।
निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणमतम्।।

इसका तात्पर्य है कि एक मुख्य विषय हों, विशय(सन्देह) का विचार हो,और वह विशय कहा से उत्पन्न हुआ उसकी संगति बतायी गयी हो, विषय से सम्बन्धित पूर्व पक्षों को उठाकर उनका समुचित उत्तर हों और सभी प्रश्नोत्तरो का एक सर्वमान्य निर्णय जिसमें हो, वह अधिकरण कहा जाता है।

ब्रह्मसूत्रों को 191 अधिकरणों में विभक्त करके ब्रह्मसूत्रों पर यह भाष्य ग्रन्थ लिखा गया है। इस प्रकार शारीरक भाष्य 555 सूत्र तथा 191 अधिकरण में प्राप्त होता है। इस भाष्य ग्रन्थ के जो प्रमुख व्याख्यान ग्रन्थ है वे इस प्रकार है–

1• भामती – " शारीरक भाष्य के व्याख्याकारों में भामती व्याख्याकार आचार्य वाचस्पति का नाम सर्वोपरि है। आचार्य वाचस्पति ने शारीरक भाष्य पर जो व्याख्या ग्रन्थ लिखा

जितने तर्क संगत विचार हो सकते हैं, उन सभी का पूर्ण समीक्षण करने का सफल प्रयास किया है। इनका यह व्याख्यान ग्रन्थ एक स्वयं में स्वतंत्र ग्रन्थ की श्रेणी में स्वीकार किया जाता है। अद्वैत दर्शन मतावलम्बी विद्वान इस ग्रन्थ को इतना सम्मान दिया है कि इनका यह ग्रन्थ भामती प्रस्थान के नाम से विख्यात हो गया। मंडन मिश्र की ब्रह्मसिद्धि के कई अंशों का प्रभाव भामती प्रतीत होने से यह ज्ञात होता है कि आचार्य वाचस्पति मंडन मिश्र से पर्याप्त प्रभावित हुए।

2•भावप्रकाशिका- अद्वैत दर्शन के दूसरे प्रसिद्ध आचार्य चित्सुखाचार्य जिन्होंने शारीरक भाष्य पर भावप्रकाशिका नाम का व्याख्यान लिखा है। चित्सुखाचार्य भाव प्रकाशिका व्याख्यान के लेखन में अपना वैदुष्य तो प्रदर्शित किया ही किन्तु सबसे अधिक प्रसिद्ध "तत्वदीपिका" नामक स्वतंत्र ग्रन्थ के लेखन से हुए। शारीरक भाष्य पर इनका यह व्याख्यान शारीरक भाष्य के तत्त्वों को समझने के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने आचार्य शंकर के प्रत्येक तात्पर्य का प्रकाशन इस शैली से किया है कि भाष्य के तात्पर्य को अपने आचार्य परम्परा के अनु-सार जानने में जिज्ञासु व्यक्ति को कठिनाई हो।

शांकर भाष्य पर व्याख्या लेखक यद्यपि अन्य भी मनीषी हुए जिनमें आनन्दवीर्य, गोविन्दानन्द आदि आचार्य विशेष रूप से स्मरण किये जा सकते है। वस्तुत: भामती व्या-ख्यान के पश्चात् अधिकांश आचार्य या तो भामती पर व्याख्यान लिखे या स्वतंत्र तार्किक ग्रन्थ के लेखन में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया ।

शारीरकभाष्य पर अनेक वृत्ति ग्रन्थों का तथा विवरण ग्रन्थों का उल्लेख प्राप्त होता हैं जिनमें शारीरक भाष्य के प्रथम चार सूत्रों पर पद्मपादाचार्य का "पञ्चपादिका" नामक वृत्ति ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय है, इसके अतिरिक्त अद्वैतानन्द का "ब्रह्मविद्या-भरण" ग्रन्थ भाष्य का अलंकारिक माना जाता है।

की है जो भेदाभेदवाद को लेकर लिखा गया है। इस ग्रन्थ में भेद एवं अभेद दोनों स्वरूपों का विवेचन ब्रह्म और जगत के सिद्धान्त को लेकर हुआ है। यह भाष्य भास्कर भाष्य के नाम से जाना जाता है। इसमें आचार्य शंकर के अनुसार ही सम्पूर्ण 555 सूत्र तथा 191 अधिकरणों पर इसकी संरचना हुई है। भास्कराचार्य का कार्यकाल दशवीं शताब्दी माना जाता है। ये आचार्य शंकर से परवर्ती तथा आचार्य रामानुज पूर्ववर्ती माने जाते है।

4. श्री भाष्य - ब्रह्मसूत्र के भाष्यकारों में आचार्य शंकर के पश्चात् जो सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण आचार्य हुए है उनमें आचार्य रामानुज का विशेष स्थान है। आचार्य रामानुज ने ब्रह्म-सूत्रों पर "श्रीभाष्य" नामक भाष्य ग्रन्थ की रचना की थी। इस भाष्य ग्रन्थ में 445 सूत्रों तथा 160 अधिकरणों का विवेचन हुआ है। आचार्य रामानुज ब्रह्मसूत्रों के "श्रीभाष्य" के द्वारा विशिष्टाद्वैत मत की स्थापना की थी। इनके मत में ब्रह्म चिद् (जीव), अचिद् (जगत्) इन दोनों से विशिष्ट है। यद्यपि ब्रह्म अपने में एक स्वतंत्र सत्ता सम्पन्न अखिल कल्याण गुणाकर हेय प्रत्यनीक, परम कारुणिक है। तथापि वह सामान्य अद्वैत न होकर चित् एवं अचित् से विशिष्ट अद्वैत है।

"श्रीभाष्य पर प्राप्त प्रमुख व्याख्याग्रन्थों का विवरण "

1. श्रुत प्रकाशिका - श्री भाष्य पर इतनी व्याख्यायें लिखी है उनमें आचार्य सुद-र्शन सूरि की श्रुति प्रकाशिका व्याख्या सर्वश्रेष्ठ है। व्याख्या ग्रन्थ में श्री भाष्य के पारम्प-रिक सम्पूर्ण गूढ़ तत्त्वों का प्रदर्शन करते हुए भाष्य के पूर्ण अभिप्राय को बहुत कठिन शब्दों का प्रयोग न करते हुए प्रदर्शित किया है।

2• श्री भाष्य विवृति – राम मिश्र कृत श्री भाष्य विवृत्ति श्री भाष्य के अभिप्राय को सामान्य रूप से समझाने के लिए महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि श्री भाष्य के मर्म स्थलों का प्रकाशन उतना अच्छा नहीं है फिर भी तात्पर्य ज्ञानार्थ यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

इसके अलावा वात्स वरद कृत "तत्त्वसार" वेदान्तदेशिक कृत "तत्त्वटीका", वीरराघव कृत "तात्पर्यदीपिका", मेघनादारिकृत "नय प्रकाशिका", परकालयति, कृति "मितप्रकाशिका", नामक व्याख्या ग्रन्थ श्री भाष्य के तात्पर्य को प्रकाशित करने में पूर्ण रूप से सहायक सिद्ध हुए।

4• पूर्ण प्रज्ञ भाष्य – तेरहवीं शताब्दी वैष्णवमतावलम्बियों में आचार्य आनन्दतीर्थ का जन्म हुआ। इन्होंने विशिष्टाद्वैत से भी एक पग और आगे चलकर पूर्णरूपेण द्वैत मत की स्थापना की । इन्होंने ब्रह्मसूत्रों पर पूर्ण प्रज्ञ भाष्य नामक भाष्य ग्रन्थ की रचना की । इस भाष्य ग्रन्थ में 564 सूत्र तथा 223 अधिकरणों पर अपने सिद्धान्त के अनुसार विवरण प्रस्तुत हुआ है। इन्हीं का आगे चलकर मध्वाचार्य यह नाम विख्यात हुआ। आचार्य माध्व 10 पदार्थ मानते है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव। इनका मत न्याय एवं वैशेषिक शास्त्र से पर्याप्त प्रभावित माना जाता है। इस भाष्य के प्रमुख टीकाकारों का विवरण इस प्रकार है–

1• तत्त्व प्रकाशिका – पूर्ण प्रज्ञ भाष्य पर आचार्य जयतीर्थ का तत्त्वप्रकाशिका नामक व्याख्यान ग्रन्थ बहुत ही महत्त्वपूर्ण है इन्होंने द्वैतवाद के विषय में जितने भी सन्देह या

आपत्तियाँ है उनका निराकरण करके अद्वैत मत का इस प्रकार से उद्भेदन किया है कि उनके तर्कों का निराकरण करना यदि असम्भव नहीं तो कुछ सम्भव अवश्य है।

5· वेदान्त परिजात – 13 वीं शताब्दी के मध्य में वैष्णव मतावलम्बियों में निम्बर्काचार्य का नाम बड़ी श्रद्धा से लिया जाता है। इन्होंने ब्रह्मसूत्रों पर 'वेदान्त परिजात' नामक व्याख्यान के द्वारा द्वैताद्वैत मत की स्थापना की। इस ग्रन्थ में 599 सूत्रों तथा 161 अधिकरणों पर भाष्य का व्याख्यान का प्रणयन हुआ। निम्बार्क चित्त अचित्त तथा ईश्वर का स्वरूप रामानुज के अनुसार ही स्वीकार करते है। किन्तु अन्य कई विचार है जो रामानुज से भिन्न होने के कारण ये विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त स्वीकार न करके द्वैताद्वैत को स्वीकार करते है। वेदान्त परिजात भाष्य में यद्यपि बहुत व्याख्या ग्रन्थों पर विवरण प्राप्त नहीं होता किन्तु आचार्य निम्बार्क के साक्षात् शिष्य श्री निवासाचार्य ने वेदान्तपरिजात पर "वेदान्त कौस्तुभ" नाम की विस्तृत व्याख्या लिखकर भाष्य के संक्षिप्त तथा गूढ़ अर्थों का रहस्य पूर्णरूपेण प्रकाशित किया है। केवल यही व्याख्या ग्रन्थ विशेष रूप से चर्चित है। इस व्याख्या ग्रन्थ के ऊपर और भी अनेक व्याख्याएं है। जिनमें कौस्तुभ प्रभा विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

6· शैव भाष्य – ब्रह्मसूत्रों पर आचार्य श्री कंठ ने शैव भाष्य की रचना की। ये 13 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्थित माने जाते है। इनका भाष्य 544 सूत्रों तथा 182 अधिकरणों में है। इन्होंने शैव विशिष्टाद्वैतमत की स्थापना अपने इस भाष्य के द्वारा की है। इसके अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि रामानुज की विशिष्टाद्वैत से प्रभावित होकर वैष्णव सिद्धान्त के स्थान पर शैव सिद्धान्त की परिकल्पना कर लक्ष्मी एवं नारायण के समान उमा शंकर की परिकल्पना करके इस सिद्धान्त विशेष को मूर्त रूप प्रदान किया।

7• श्रीकरभाष्य – आचार्य श्रीपति ने ब्रह्मसूत्रों के व्याख्यान के माध्यम से वीरशैव विशिष्टाद्वैत मत की स्थापना के लिए जिस महनीय ग्रन्थ विशेष की संरचना की वह है "श्रीकरभाष्य"। यह भाष्य ग्रन्थ 14 वीं शताब्दी के अन्त में और 15वीं शताब्दी के प्रारम्भ में लिखा गया। शैव भाष्य के समान ही 544 सूत्रों एवं 182 अधिकरणों में इस भाष्य के समान ही 544 सूत्रों एवं 182 अधिकरणों में इस भाष्य का कलेवर प्राप्त होता है। शैव मत में कई शाखाऐं है– शैव, पाशुपत, कालागमन तथा कापालिक। इसमें शैव सम्प्रदाय पूर्णत: वैदिक माना जाता है। शैव सिद्धान्त का प्रचार तमिल में तथा वीर शैव [illegible] का प्रचार कर्नाटक प्रदेश में विशेष रूप से मिलता है। शैव सम्प्रदाय में भक्तियुक्त होकर जहाँ शंकर की अराधना बतायी गयी वहीं वीर शैव मत में शंकर के लिङ्गात्मक मूर्ति के अराधना पर बल दिया गया है। दोनों सिद्धान्त लगभग कई स्थलों पर समानता रखते है।

8• अणुभाष्य– वैष्णव मतावलम्बियों में कृष्णभक्ति की धारा को तीव्रता प्रदान करने वाले आचार्य वल्लभ वैष्णव जगत् में सर्वदैव सम्माननीय रहे है। अन्य आचार्यों के समान इन्होंने ही अपने मत को पूर्ण शास्त्रीयता प्रदान करने के लिए ब्रह्म सूत्रों पर "अणुभाष्य" नामक ग्रन्थ की रचना की। आचार्य वल्लभ ने अपने भाष्य के द्वारा "शुद्धाद्वैतवाद" की स्थापना की। इस भाष्य ग्रन्थ में 554 सूत्रों और 171 अधिकरणों पर विचार किया गया है। यह भाष्य शुद्धाद्वैत मत का प्रतिपादक है। इनके मत में ब्रह्म सर्वधर्म विशिष्ट अंङ्गीकृत किया गया है। अत: उसमें स्थित विरूद्ध धर्मो की स्थिति भी नित्य है। ये अद्वैतियों के अनुसार ब्रह्म को नि:धर्मक, निर्विशेष, निर्गुण मानकर माया के सम्पर्क से सगुण अवस्था की प्राप्ति स्वीकार नहीं करते। इनके मत में ब्रह्म में उभयरूपकता, "उभय व्यपदेशात् त्वहिकुण्डलवत्"[1]

1• ब्रह्मसूत्र (3•2•27)

इस ब्रह्मसूत्र के आधार पर श्रुतिसिद्ध है। ये ब्रह्म में विरूद्ध धर्मों की सत्ता भी स्वाभाविक मानते है। इनके भाष्य ग्रन्थ की पुरूषोत्तम जी के द्वारा लिखी गयी "भाष्य प्रकाश" नाम की टीका "अणुभाष्य" को समझने के लिए अति उत्तम है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई व्याख्या ग्रन्थ उतने प्रसिद्ध नहीं हुए जितना की भाष्य प्रकाश को यह गौरव प्राप्त हुआ।

9• विज्ञानामृत – आचार्य विज्ञान भिक्षु 16 वीं शताब्दी के अन्तिम चरणों में स्थित माने जाते है। इन्होंने भी ब्रह्मसूत्रों पर अविभागाद्वैत मत को स्थापना के लिए "विज्ञाना-मृत" भाष्य को संरचना की थी। इनके भाष्य का भी स्वरूप आचार्य बल्लभ के अनुसार ही 554 सूत्रों तथा 171 अधिकरणों में प्राप्त होता है। विज्ञानभिक्षु आचार्य वल्लभ के सम-कालीन माने जाते है। इसके मत में संसार के सम्पूर्ण पदार्थों से अविभक्त रूप में स्थित ब्रह्म एक अद्वैत तत्त्व है। अर्थात् संसार ब्रह्म् का एक अविभक्त अंश है। इसीलिए इनका मत अवि-भागाद्वैत नाम से जाना जाता है।

10• गोविन्द भाष्य – बलदेव विद्याभूषण पूर्व में माध्वमत के अनुयायी थे। और अपने विषय के उद्भट विद्वान थे। इन्होंने भगवान् गोविन्द के स्वप्न में प्राप्त आदेश को स्वीकार कर मात्र 18 दिनों ही गोविन्दभाष्य की संरचना की। इस भाष्य का स्वरूप भी लगभग अणुभाष्य के ही समान है। इन्होंने अपने इस भाष्य के द्वारा अनित्य भेदाभेद मत की स्थापना की। एक रीति वलदेव विद्याभूषण को चैतन्य मत का शास्त्रीय रूप में परिष्कर्ता के रूप में जाना जाता है। किन्तु इतिहास की दृष्टि से यह माध्व मत से सम्बन्धित है और अचिन्त्य भेदाभेद मत का प्रतिष्ठापक है। आचार्य बलदेव विद्याभूषण का समय 18 वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। इनके भाष्य ग्रन्थ पर प्राचीन व्याख्या ग्रन्थ नहीं प्राप्त होता है।

अद्वैत वेदान्त दर्शन के आचार्यों तथा उनके प्रमुख दार्शनिक ग्रन्थों का विवरण

अद्वैत दर्शन का आविर्भाव यदि आचार्य शंकर के मत से विचार किया जाय तो अद्वैत परक श्रुतियों के बहुलतया प्राप्त होने से वैदिक काल से ही प्रारम्भ मानना उचित होगा। यद्यपि उस समय के किसी ग्रन्थ विशेष का उल्लेख पृथक रूप से प्राप्त नहीं होता तथापि ऋषि परम्परा में यह मत जीवित था। इसको नकारा नहीं जा सकता। अतएव भगवान् वादरायण ने अपने सूत्रों में कई आचार्यों का उल्लेख किया। जो लगभग सात संख्या में है। जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं-

क्रम संख्या	आचार्य आत्रेय	ब्रह्मसूत्र	सूत्र विवरण
1.	आत्रेय	"स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः"	3.4.44
2.	आश्मरथ्य	"अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः"	1.2.29
2.	"	"प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः"	1.4.20
3.	औडलोमि	"उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमि"	1.4.21
	"	"अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः"	3.4.41
	"	"चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः	4.4.6
4.	कर्ष्णाजिनि	"चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेतिकार्ष्णाजिनिः	3.1.9
5.	कासकृत्स्न	"अवस्थितेरिति काशकृत्सनः"	1.4.22
6.	जैमिनि	"धर्म जैमिनिरत एव"	3.2.4
		"तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिने"	3.4.40
		"परं जैमिनिमुख्यत्वात्"	4.3.12
		"परामर्श जैमिनिरचोदना चा"	3.4.18

"ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादि" 4•4•5

"भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्" 4•4•11

ब्रह्म सूत्र के 11 सूत्रों में जैमिनी का नाम आया है।

7• बादरि "अनुस्मृतेर्बादरिः" 1•2•30

"सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः" 3•1•11

"कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः" 4•3•7

"अभावं बादरिराह ह्येवम्" 4•4•10

आचार्य शंकर अद्वैत मत की स्थापना में उसके प्रचार प्रसार में सर्वथा महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के रूप प्रतिष्ठित होते है। इनके समय से ही अद्वैत मत अपने को पूर्ण रूपेण विकसित स्वरूप में प्राप्त करता है। इसी मत को जहाँ मण्डन मिश्र ने अपने ब्रह्मसिद्धि नामक ग्रन्थ के माध्यम से तथा सुरेश्वराचार्य उपनिषद् भाष्यों पर वार्तिकों के द्वारा अद्वैत मत को पुष्ट किया वहीं पद्मपादाचार्य की शारीरक भाष्य की प्रथम वृत्ति पञ्चपादिका विशेष रूप से सम्माननीय है। सुरेश्वराचार्य के शिष्य सर्वज्ञात मुनि ने संक्षेप शारीरक नामक एक पद्यबद्ध व्याख्या ग्रन्थ लिखा है। अद्वैत वेदान्त के ग्रन्थकारों में वाचस्पति मिश्र का नाम सर्वोपरि है जो भामती व्याख्यान के माध्यम से सम्पूर्ण संस्कृत जगत् का महत् कल्याण किया है। विमुक्तात्मा की "इष्टसिद्धि" जहाँ अविद्या के स्वरूप विवेचन में अप्रतिम है वहाँ महाकवि श्रीहर्ष का खण्डन खण्डखाद्य काव्य ग्रन्थ विद्वानों के लिए कसौटी बना हुआ है। जो द्वैतमत के खण्डन में एक ऐसी धारा है कि कोई भी प्रतिपक्षी मत खण्डित हुए बिना नहीं रह सकता। आचार्य अद्वैतानन्द का ब्रह्म विद्या भरण तो जैसे शारीरक भाष्य का अलंकारक आभूषण हो। आनन्दबोध का न्यायमकरन्द ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त की अनुपम धरोहर है। चित्सुखाचार्य जिन्होंने अपने कई बहुमूल्य ग्रन्थों के द्वारा अद्वैत मत को अत्यन्त समृद्ध किया वे

ग्रन्थ है "चित्सुखी जिसका मुख्य नाम "तत्त्वदीपिका" है, शारीरक भाष्य पर,भाव प्रकाशशिका, ब्रह्मसिद्धि पर "अभिप्राय प्रकाशिका" व्याख्या। आचार्य विद्यारण्य जो श्रृंगेरीमठ के स्वामी रहे इनका "पञ्चशती" नामक ग्रन्थ का परिचय देना व्यर्थ ही है। क्योंकि अपने आप में वह अत्यन्त लोकप्रिय है। प्रकाशानन्दयति ने "वेदान्तसिद्धान्त-मुक्तावली" के द्वारा एक जीववाद के प्रतिपादक उत्तम ग्रन्थ की रचना की।

स्वतंत्र ग्रन्थ लेखक में अद्वैत सिद्धिकार मधुसूदन सरस्वती सर्वथा उल्लेखनीय मनीषी है। जिन्होंने अपने इस ग्रन्थ विशेष के द्वारा अद्वैतमत में आगत आशंकाओं को निर्मूल करते हुए इस मत को अभेद्य, रक्षाकवच प्रदान किया। इसके अलावा इनके लिखे हुए "वेदान्त कल्प लतिका", "सिद्धान्तविन्दु","गीताव्याख्यान" अद्यतन भी लोक-प्रियता के चरम सीमा में है। इन्हीं के ही समय में नृसिंहाश्रम ने वेदान्त तत्त्वविवेक, "अद्वैत दीपिका" तथा "भेदधिक्कार" ग्रन्थों की रचना से अद्वैत वेदान्त साहित्य को समृद्ध किया। इसी समय, अप्पय दीक्षित श्रीकंठाचार्य के ब्रह्मसूत्र भाष्य पर "शिवार्क मणि दीपिका" नामक उत्कृष्ट व्याख्यान लिखकर विशिष्टता प्रदान की। अद्वैत वेदान्त ग्रन्थ लेखकों में धर्म राजा ध्वरिन्द्र की "वेदान्त परिभाषा" आचार्य सदानन्द का "वेदान्तसार" तथा "अद्वैत ब्रह्मसिद्ध" ये ग्रन्थ और इनके लेखक सदैव चिरस्मरणीय रहेंगे।

0 0 0
0

﴾आ﴿ वेदान्त का अर्थ एवं प्रतिपाद्य

विश्व की सम्पूर्ण विद्यायें किसी ऐसे ही वस्तु या ज्ञान की बोधिका है जो अधिकतर भौतिक वाद विषयक है। अथवा अध्यात्म के किसी ऐसे अंश से सम्बद्ध है जो पूर्णरूपेण ब्रह्म साक्षात्कार के समीप नहीं है। ब्रह्मविषयक, जगत् विषयक तथा विलक्षण स्वरूपिणी माया विषयक तत्त्वों का सम्यक ज्ञान करके ब्रह्म के अलौकिक तत्त्व का साक्षात्कार एवं आत्मानुभूति जिस विद्या के द्वारा होती है वह विद्या है- ब्रह्मविद्या अर्थात् वेदान्त विद्या। वेदान्त विद्या ब्रह्म के पूर्ण स्वरूप की प्रतिपादिका मानी जाती है और उस विद्या का प्रतिपादक शास्त्र वेदान्त कहलाता है। वेदस्य अन्त:=निर्णय: यस्मिन् स: वेदान्त: । अर्थात् जिसमें वेदों के परम तात्पर्य को निरूपित किया गया हो वह वेदान्त है। अथवा वेदस्य=तद्वाच्य शब्द राशे: अन्त: परमो भाग: यस्मिन् स: वेदान्त: अर्थात् जो संहिता ब्राह्मण, आरण्यक , उपनिषद्,रूप शब्द राशि है। इसका परम भाग उपनिषद् वेदान्त कहलाता है। वेदान्त शब्द से उपनिषद् के ग्रहण में स्वयं उपनिषद् ही प्रमाण है।[1] "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था:" इस मुण्डकोपनिषद् के वाक्य में वेदान्त शब्द का प्रयोग उपनिषदों के लिए ही हुआ है। इसी तरह[2] श्वेताश्वर उपनिषद् में "वेदान्ते परम गुह्यं" इस कथन में उपनिषदों के लिए वेदान्त शब्द का प्रयोग है।[3] महानारायण नामक ग्रन्थ में तो

---

1. मुण्ड0 ﴾3·2·5﴿
2. श्वेताश्वर ﴾6·22﴿
3. महानारायण ﴾10·8﴿

स्पष्टत: वेद का पूर्णनिर्णय वेदान्त में है यह बतलाया गया है- "यो वेदादौ स्वर: प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठित" इस तरह से हम देखते है कि वेदान्त शब्द का प्रयोग पूर्णरूप से उप-निषदों के लिए ही हुआ । यद्यपि सदानन्द ने वेदान्त शब्द से उपनिषद् ब्रह्मसूत्रादि इत्यादि कथन से ब्रह्म सूत्रों को भी वेदान्त यह संज्ञा स्वीकार की है। तथापि वेदान्त शब्द के शब्दार्थ से उपनिषद् अर्थ मूल रूप में स्वीकार करना अधिक उचित है। यद्यपि ब्रह्मसूत्र तथा अन्य वे सभी ग्रन्थ जो उपनिषद् प्रतिपाद्य विषय का शास्त्रीय पद्धति से प्रतिपादन करते है, वेदान्त के अन्तर्गत स्वीकार किये जा सकते है, किन्तु वेदान्त शब्द रूप मुख्य वृत्या उपनिषदों का तथा गौण वृत्या ब्रह्मसूत्रादि आर्ष ग्रन्थों का ग्रहण होता है। उपनिषद् यह शब्द समीप अर्थ के द्योतक उप तथा निश्चय अर्थ के द्योतक नि: उपसर्ग पूर्वक विशरण, अव-सादन तथा गमन आदि अर्थों में विद्यमान सद् धातु से क्विप प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। इसका अर्थ हुआ जो सामीप्येन तथा निश्चयेन ब्रह्म एवं आत्मा की एकता को बताता है, राग द्वेष को शिथिल करता है, सम्पूर्ण क्लेशों का नाश करता है और ब्रह्म को, ब्रह्म भाव को प्राप्त कराता उस विद्या को उपनिषद् कहते है। इसका अर्थ मुख्यतः ब्रह्म विद्या होता है और उस ब्रह्म विद्या का प्रतिपादक ग्रन्थ विशेष ही उपनिषद् शब्द से जाना जाता है। इस उपनिषद् शब्द में उपशब्द का अर्थ समीप है, नि शब्द का अर्थ निश्चय है और सद् शब्द का अर्थ विशरण, गति तथ अवसादन है। "ब्रह्मविद्या भरणम्" नामक ग्रन्थ में उपनिषद्

---

1. उपतिशब्द: सामीप्ये निशब्दो निर्णयार्थक: ।
सदेर्विशरणार्थत्वामित्येषोपनिषद्भवेत् ।।
परमात्मनं सामीप्येन प्रत्यगभेदेन विषयीकृत्य निर्णयरूपा ।

शब्द का अर्थ पूर्णरूपेण व्याख्यायित है। समीप उपसर्ग के द्वारा प्रत्यग आत्मा से ब्रह्म का सामीप्य कहा जाता है। और सामीप्य में प्रत्यग् आत्मा तथा ब्रह्म का अभेद रूप विवक्षित है। नि: शब्द के निश्चयार्थक होने से इन दोनों उपसर्गों के द्वारा प्रत्यगात्मा और ब्रह्म के अभेद की निश्चयरूपा विद्या उपनिषद् शब्द से जानीजाती है। यह प्रत्यगात्मा और ब्रह्म का साक्षात्कार कराने वाली विद्या विद्वानों के अनर्थों को शिथिल करती है, उनका नाश करती है, और ब्रह्म को प्राप्त कराती है, । इसलिए उपनिषद् शब्द से ब्रह्म विद्या का ही ग्रहण होता है। अथवा सामीप्य के द्वारा विषय होकर निरन्तर ब्रह्म स्वरूप, परमनि:-श्रेय जिस विद्या में स्थित है। उसे उपनिषद् ब्रह्म विद्या कहते हैं। इस प्रकार उपनिषद् शब्द से ब्रह्मविद्या का ही मुख्यतया ग्रहण होता है। और उस ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक होने के कारण उपनिषद् ग्रन्थ विशेष भी उपनिषद् शब्द से व्यहृत होते हैं। अर्थात् उपनिषद् शब्द का मुख्य अर्थ ब्रह्म विद्या है और गौण अर्थ उपनिषद् ग्रन्थ।

वेदान्त दर्शन के द्वारा जिन तत्त्वों का प्रतिपादन होता है। वे है, ब्रह्म, जीव ईश्वर , माया, जगत, सत्ताभेद अध्यारोप, अपवाद विवर्तवाद, सृष्टिक्रम, परमसत्य, आत्मानुभूति मोक्षस्वरूप ।

<u>ब्रह्म</u> - स्वरूपत: गुणत: बृह्यति इति ब्रह्म। बृंहमू , बृहमणे धातु से मनन प्रत्यय करने पर ब्रह्मन् शब्द निष्पन्न होता है। व्युत्पत्ति के आधार पर जो स्वरूपत: गुणत: सर्वश्रेष्ठो:

हो उसे ब्रह्म कहते है। [1]आचार्य शंकर के अनुसार नित्य शुद्ध मुक्तस्वभाव, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति समन्वित, ब्रह्म् कहलाता है। अद्वैत वेदान्त का केन्द्र प्रतिपाद्यत्वेन ब्रह्म ही है। ब्रह्म के ज्ञान के विषय में दो लक्षण उपनिषदों में उद्धृत हुए है। स्वरूप लक्षण एवं तटस्थ लक्षण । स्वरूप अर्थात् ब्रह्म् के तात्त्विक रूप को बतलाना उसका स्वरूप लक्षण है । "स्वरूप सत् व्यावर्तक स्वरूपलक्षणम्।"अर्थात् जो स्वरूप में स्थित होकर दूसरे से लक्ष्य को पृथक करे और स्वरूप का बोधन करावें उसे स्वरूप लक्षण कहते हैं। यथा [2]"सत्य ज्ञानमन्तं ब्रह्म", "[3]विज्ञानमानन्दं ब्रह्म्",। वह सत् चित्त और आनन्द स्वरूप है यही ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। तटस्थ लक्षण उसे कहते है

- -

1. अस्ति ताव द्ब्रह्म नित्य शुद्ध बुद्धमुक्त स्वभावं, सर्वज्ञ सर्वशक्ति समन्वितम्, ब्रह्मशब्दस्य हि "व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते बृहते- र्धातोरर्थानुगमात् सर्वस्यात्मवाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः।

   "शा० भा० ब्रा० सू०" - 1.1.1

2. तैत्तिरीय उपनिषद् 2.1.1.

3. बृहदारण्यक उपनिषद् 3.9.28

जिसमें आगन्तुक गुणों का निर्देश होता है। [1] "कदाचित्कत्वे सति व्यावर्तकं तटस्थलक्षणम्"। यथा - [2] " यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व। जिससे सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते है और जिसके द्वारा अपने जीवन के स्वरूप को धारण करते अर्थात जिससे पोषित होते है और समय सीमा समाप्त होने पर जिसमें समाहित हो जाते है वह तत्त्व विशेष ब्रह्म है इसमें आगन्तुक उत्पादकत्व पालकत्व आदि गुणों का समावेश होने के कारण यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप सर्वशक्ति समन्वित, तत्त्वविशेष ब्रह्म है। और यही ब्रह्म आत्म शब्द के द्वारा भी जाना जाता है, इसलिए आत्मा और ब्रह्म के अभेद की प्रतिपादिकायें अनेक श्रुतियां विद्यमान हैं। यथा- [3] "अहं ब्रह्मास्मि" [4] "अयं आत्मा ब्रह्म", [5] "तत्त्वमसि", यह सम्पूर्ण संसार ब्रह्म का ही स्वरूप है क्योंकि ब्रह्म के अलावा कोई भी वस्तु सत नहीं है। ब्रह्म ही एक सत् वस्तु है। वे एकत्व प्रतिपादक श्रुति वाक्य इस प्रकार है- [6] "एकमेवाद्वितीयम्, [7] सर्वं खल्विदं ब्रह्म, [8] नेह नानास्ति किञ्चन, [9] आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।"

- -

1. भारतीयदर्शन - बलदेव प्रसाद उपाध्याय
2. तैत्तिरीय उपनिषद् -3.1
3. बृहदारण्यक उपनिषद् - 1.4.10
4. बृहदारण्यक उपनिषद् - 2.5.19
5. छान्दोग्य उपनिषद् - 6.8.7
6. छान्दोग्य उपनिषद्- 6.2.2.
7. छान्दोग्य उपनिषद्- 3.14.1
8. बृहदारण्यक उपनिषद्- 4.4.9
9. ऐतरीय उपनिषद् - 2.2.1

यह ब्रह्म सगुण तथा निर्गुण भेद से दो प्रकार का है। यह जब माया से अवच्छिन्न होता है तब सगुण ब्रह्म , अपर ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है और इसी ईश्वर से सम्पूर्ण संसार की स्थिति, उत्पत्ति तथा लय होता है। माया से पृथक रूप में स्थित निरवच्छिन्न ब्रह्म निर्गुण कहलाता है। निर्गुण ब्रह्म केवल सत् रूप में ही भाषित होता है । कोई भी धर्म इसमें प्रतीत नहीं होते। यद्यपि ये दोनों ब्रह्म एक ही है किन्तु दृष्टिभेद से दोनों की भिन्नता गृहीत होती है। जैसे संसार के पदार्थ असत्य और काल्पनिक है उसी प्रकार जीव भी अविद्या पर आश्रित रहता है। ब्रह्म ही एकमात्र सत है। इस ज्ञान के अभाव में ही जीव की सत्ता, जीव ईश्वर की कल्पना , उपसना के लिए करता है। और उसे दया दाक्षिण्य आगाध करुणा आदि गुणों से अलङ्कृत मानता है यही सगुण ब्रह्म ईश्वर के रूप में जाना जाता है।

पारमार्थिक दृष्टि से जिस ब्रह्म का विचार किया जाता है, वह है निर्गुण ब्रह्म। उसके ऊपर जीव या जगत का कोई गुण आरोपित नहीं होता। और यह ब्रह्म शंकर के मत से सजातीयविजातीय तथा स्वगत इन तीनों भेदों से रहित होता है। ब्रह्म में दो अंश होते है चित् अंश तथा अचित् अंश। ये आपस में विरुद्ध धर्म माने जाते है। इस प्रकार ब्रह्म में एक अंश दूसरे से भिन्न होता है और भेद की सिद्धि करता है। आचार्य शंकर के मत में ब्रह्म के दो रूप विश्व तथा विश्वातीत रूप में स्वीकृत हुए है। ब्रह्म विश्व रूप में गुणसम्पन्न माना जाता है। किन्तु विश्वातीत रूप में वह अनिवर्चनीय ही रहता है। क्योंकि उसमें किसी भी गुण की विद्यमानता स्वीकृत नहीं होती है, इसीलिए वह निर्गुण है।

सगुण और निर्गुण वस्तुत: कोई भेद नहीं है किन्तु सत्ताभेद से या दृष्टिकोण की भिन्नता से यह भेद सिद्ध होता है। सगुण स्थिति में यह संसार का उत्पादक, पालक, तथा संहर्ता है। अत: वह ईश्वर माना जाता है। परन्तु निरपेक्ष भाव से देखने पर वह ब्रह्म ही प्रतीत होता है। वस्तुत: निर्गुण ब्रह्म ही वास्तविक पारमार्थिक सत्ता है परन्तु व्यवहार के लिए उपसनार्थ वही सगुण ब्रह्म ईश्वर माना जाता है। उपासना के मार्ग में निर्गुण ब्रह्म के प्राप्ति में सगुण ब्रह्म की अराधरा साधक का वह सोपान है जिसके द्वारा वह अपने परम लक्ष्य को प्राप्त करता है।

ब्रह्म ज्ञानार्थ चित्त की शुद्धि आवश्यक है और चित्त की शुद्धि उपासना तथा साधना से होती है और उपासना के लिए सगुण ब्रह्म की परिकल्पना विना किये उपासना सम्भव नहीं है। क्योंकि अमूर्त वस्तु के स्वरूप के प्राप्ति के लिए तत्तसम्बद्ध मूर्त रूपी कल्पना आवश्यक है।

<u>जीव</u> - अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य को जीव कहा जा सकता है। शरीर तथा इन्द्रिय समूह के स्वामी और कर्मफलों के भोगकर्ता के रूप में आत्मा को ही जीव शब्द से जाना जाता है। जीव का लक्षण करते हुए आचार्य शंकर कहते है-[1] " अस्ति आत्मा जीवाख्य: शरीरेन्द्रियपञ्जराध्यक्ष: कर्मफलसम्बन्धी।" यह जीव नित्य वस्तु है जन्म एवं मरण ये शरीर के धर्म है न कि जीव के। यह जीव शरीरादि उपाधियों से युक्त होकर जब उपस्थित होता है तो उसके जन्म तथा शरीर विशेष को त्याग देने पर उसके मरण का भ्रम जगत में देखा जाता है। किन्तु आत्मा का न तो जन्म होता है और न ही मरण। वेदान्त मत में आत्मा चैतन्य रूप ही है। स्वयं परम ब्रह्म ही उपाधि सम्पर्क से जीव के स्थिति में विद्यमान रहता है। अत: जीव में

1· ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य 1·3·17

में ब्रह्म के साथ स्वभावगत् ऐक्य होने पर नित्य चैतन्य का अपलाप नहीं किया जा सकता। यह जीव सर्वव्यापक होने के कारण व्यूह परिमाण वाला माना जाता है तो इसके लिए अणु शब्द को व्यवहार देखा जाता है वह इसके अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण ही इसमें हेतु है। जीव जाग्रत स्वप्न तथा सुषुप्ति इन अवस्थाओं में अन्नमय, मनोमुय, प्राणमय विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँच कोषों में उपलब्ध होता है। किन्तु आत्मा का शुद्ध चैतन्य इन पाँचों कोषों के अतिरिक्त एक पृथक को वस्तु है। इसी प्रकार स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर तथाकारण शरीर के व्यष्टि अभिमानी जीव के विश्व तैजस तथा प्राज्ञ संज्ञाए है। जीव की वृत्तियाँ उभय मुखी होती है। यदि वे बहिर्मुखी होती है तो विषयों की प्रकाशित करती है अब वे अन्तर्मुखी होती है तो कर्त्ता को अभिव्यक्ति करती है। जिस प्रकार नृत्यशाला आदि में स्थित दीपक शाला में विद्यमान सभी वस्तु विशेष को प्रकाशित करता है, वस्तु के अभाव में स्वत: प्रकाशित होता है उसी तरह साक्षी आत्मा अहंकार विषय तथा बुद्धि को अव-भासित करता है। इनके अभाव में स्वत: प्रकाशित होता है। बुद्धि चन्चलता से युक्त है बुद्धि में स्थित चन्चलता के कारण ही जीव चन्चलता प्रतीत होता है। किन्तु वह वस्तुत: शान्त है।

ईश्वर- ब्रह्म जो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप है, निर्गुण निराकार है। माया के द्वारा आवृत्त होने पर जब विशेषण विशिष्ट या सगुण के भाव को धारण करता है तब वही ब्रह्म ईश्वर नाम से जाना जाता है। यही ईश्वर विश्व की सृष्टि का स्थिति तथा लय का मुख्य कारण माना जाता है। यद्यपि यह विचारणीय विषय है कि जगत् की सृष्टि से ईश्वर की किस उद्देश्य की पूर्ति होती है। क्योंकि विना प्रयोजन के किसी भी कार्य में कर्त्ता की प्रवृत्ति सम्भव नहीं होती "प्रयोजनम् अनुदिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते - इस सिद्धान्त के आधार पर प्रवृत्ति विशेष में प्रयोजन अवश्य मुख्य

कारण है। वेद ईश्वर को सर्वकाम: ऐसा कहते है अर्थात् ईश्वर पूर्ण इच्छा वाला है। फिर भी एकत्व से बहुत्व के रूप में अपने को परिकल्पित करना यह ईश्वर का कौन सा प्रयोजन सिद्ध करता है इस प्रश्न का एक ही उत्तर है उसका लीलाविलास। क्योंकि आप्त काम व्यक्ति भी क्रिड़ार्थ कार्य विशेष का सम्पादन करता है। ईश्वर भी यद्यपि आप्तकाम है कर्तुम अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम सर्वसमर्थ है। सर्वकाम है फिर भी वह सर्वज्ञ ईश्वर लीलार्थ सृष्टि का व्यापार करता है। श्रुति भी सृष्टिक्रम के विषय में ईश्वर की स्वतंत्र इच्छा को ही मुख्य कारण मानते है। यथा-"सदैवऽग्रासीत, सोऽकामयत। एकोऽहम् बहुस्याम ततोऽसृजत्"। यह ईश्वर जगत् का उपादान कारण है। जगत् सृष्टि इच्छा पूर्वक, ईक्षणपूर्वक सृष्टि व्यापार कर्ता ईश्वर इस जगत् का निमित्त कारण ही माना जाता है और उपादान कारण तो है ही यद्यपि अन्य दर्शनविद् ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण ही मानते है किन्तु वेदान्त दर्शन इसे उपादान कारण भी मानता है अतएव उपनिषद में ब्रह्म को उद्देश्य करके ही यही बात कही गयी है कि "येन विज्ञानेन सर्वं विज्ञातं भवति तद्ब्रह्म।" अर्थात जिस एक वस्तु के जान लेने पर सबकुछ जान लिया जाता है वही ब्रह्म है। जिसप्रकार एक मिट्टी के पिण्ड के जानने से मिट्टी के बने समस्त पदार्थों का ज्ञान हो जाता है कि ये मिट्टी के बने है। इसी प्रकार एक ब्रह्म के जानेनेपर सम्पूर्ण जगत के पदार्थों का ज्ञान हो जाता है । मृत्तिका के साथ ब्रह्म का यह दृष्टान्त ब्रह्म को जगत् का उपादान

कारण सिद्ध करता है। [1] मुण्डकोपनिषद् में भी ब्रह्म को जगत् का आदि कारण अर्थात् उपादान कारण माना गया है। इस प्रकार यह ब्रह्म जहाँ सृष्टि कर्त्ता के रूप में सृष्टि का निमित्त कारण होता है वहीं सम्पूर्ण संसार मिट्टी के दृष्टान्त के समान ब्रह्म से ही निर्मित होने के कारण सृष्टि का उपादान कारण भी है। यह ईश्वर माया की उपाधि से उपहित चैतन्यरूप ब्रह्म ही है। इस प्रकार अनुपहित चैतन्य ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण और उपहित चैतन्य ब्रह्म सृष्टि का उपादान कारण होता है इस प्रकार ब्रह्म एक साथ ही सृष्टि का अवस्थाभेद से उपादान एवं निमित्त दोनों कारण बनाता है। यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है कि जैसे निर्मित वस्तु विशेष मृत्तिका के प्रमुख गुणों को धारण करते है। प्रत्येक मृतिका के पात्र में सामान्य मिट्टी के समान ही गन्ध आदि गुण वर्तमान रहते है। किन्तु सृष्टि में ऐसा नहीं देखा जाता है। इस आनन्दमय ब्रह्म से सुख दु:ख मय संसार की उत्पत्ति एक विचित्र रूप में ब्रह्म से बिलकुल भिन्न रूप में दिखलायी पड़ती है। तब यह कैसे ब्रह्म के गुणों को धारण न करने पर भी जगत् ब्रह्म का कार्य हो सकता है। अर्थात् ब्रह्म इसका उपादान कारण बन सकता है। किन्तु यह प्रश्न उचित नहीं है क्योंकि संसार में अचेतन से चेतन की उत्पत्ति तथा चेतन से अचेतन की उत्पत्ति दृष्टि-गोचर होती है यथा अचेतन गोमय से जैसे चेतन बिच्छू पैदा होता है ठीक उसी तरह चेतन पुरूष से अचेतन नखलोम आदि उत्पन्न होते है। इसी प्रकार कारण कार्य की यह विलक्षण ब्रह्म के जगत् कर्त्ता होने के सिद्धान्त की बाधिक नहीं बन सकती। यही जगत् कर्त्ता ईश्वर है

---

1. यदा पश्य: पश्यते रूक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरूषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय

माया - सम्पूर्ण इस सृष्टि से भी परे ब्रह्म तत्त्व है और उसी ब्रह्म तत्त्व से उसकी इच्छा से यह सृष्टि हुई। ब्रह्म सगुण रूप में होकर सृष्टि को अपने में से निर्मित करता है। अत: वह सृष्टि का उपादान कारण बनता है। मृदाघटवत् ब्रह्म से जगत् का स्वरूप अवस्थित है। सृष्टि का निर्माता भी वह स्वयं पृथक रूप से होने के कारण जगत् का निमित्त कारण भो बनाता है। किन्तु जब ब्रह्म निर्गुण निराकार नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप है। तब उससे सृष्टि कर्म कैसे ? ब्रह्म एक है जगत् नानात्मक है तो इस जगत् में नानारूपता कैसे होती है, इसका एक ही उत्तर है माया । माया एक विलक्षण . स्वरूप है जो परब्रह्म की बीज शक्ति कही जाती है। माया रहित होने पर परब्रह्म किसी भो कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता और नही जगत् की सृष्टि उससे सम्भव है। माया के द्वारा ही परब्रह्म जगत् के सर्जन में प्रवृत्त होता है। भगवान् भाष्यकार शंकर ने माया को अविद्या का स्वरूप बतलाया है। उनका कथन है-

"अविद्यात्मिका हि बीजशक्ति रव्यक्त शब्दनिर्देश्या
परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्ति:, यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिता शेरते
संसारिणा जीवा:1"

अर्थात यह माया अविद्यात्मिका, बीजशक्ति,अव्यक्त कही जातो है। परमेश्वर में आश्रित होने वाली महासुप्ति रूपणी है जिसमें अपने कोन जानने वाले संसारिक जीव शयन करते हैं। जिस प्रकार अग्नि की दाहकता शक्ति सर्वदा अग्नि के साथ रहती है ठीक उसी तरह यह माया भी सर्वदा ब्रह्म के साथ ही रहतो है। त्रिगुणात्मिका माया ज्ञान विरोधी भावरूप पदार्थ है। चूंकि इसका अभावरूप नहीं है। इसलिए भावरूप पदार्थ इसे कहा

---

1. शारीरक भाष्य 1.4.3

जाता है। माया न तो सत है और न ही असत् यह दोनों से विलक्षण है और जो पदार्थ सत् एवं असत् दोनों में किसी के द्वारा निरूपित नहीं हो सकता वह अनिर्वचनीय कहलाता है। इसके स्वरूप का अनिवर्चनीयत् रूप विवेकचूड़ामणिकार लिखते है कि-

"सन्नाप्यसन्नाऽप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नेत्युभयात्मिका नो।
सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा ।।"[1]

यह माया सत् इस लिए नहीं है क्योंकि इसका बाध होता है और जिसका बाध होता है वह सत् नहीं हो सकता। इसलिए माया सत नहीं है। इस तरह माया की क्योंकि प्रतीति होती है इसलिए उसको असत् नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जो असत् है उसकी प्रतीति नहीं होती इस तरह माया सत् एवं असत् दोनों से विलक्षण मानी जाती है। इसी लिए अनिर्वचनीय कहलाती है। इस माया को किसी तर्क से उसी तरह सिद्ध नहीं किया जा सकता जैसे किसी अन्धकार की सहायता से किसी अन्य अन्धकार का साक्षात्कार नहीं होता। सूर्योदय काल में जैसे अन्धकार नष्ट हो जाता है ठीक उसी तरह ज्ञान के उदय के समय ही माया का अस्तित्व लुप्त हो जाता है। जैसे अन्धकार को सहन नहीं कर सकता उसी प्रकार माया विचारों को नहीं सहन कर सकती। फिर इस जगत् की उत्पत्ति के लिए माया को स्वीकार करना उसी की अनिर्वचनीयता को स्वीकार करना सर्वथा युक्ति संगत है। इसी लिए[2] आचार्य शंकर ने माया का स्वरूप दिखलाते समय लिखा है कि यह भगवान् की अव्यक्त

1• विवेकचूड़ामणि - श्लोक ।।।

2• "अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत सर्वमिदं प्रसूयते ।।"

शक्ति है जिसके आदि का पता नहीं है वह सत् , रज, तम इन तीन गुणों से युक्त अविधा रूपिणी है। उसका पता उसके कार्यों से चलता है वही उस जगत् की उत्पादिका है।

मायाकीअनिर्वचनीयता तो स्पष्ट है क्योंकि सत् असत् तथा सत्असत् दोनों से विलक्षण है। इसलिए अनिर्वचनीय शब्द से व्यक्त होती है इसकी दो शक्तियाँ हैं आवरण तथा विक्षेप। इन्हीं की सहायता से वस्तुरूप ब्रह्म के वास्तविक रूप को ढककर उसमें अवस्तु रूप जगत् की प्रकृति का उदय होता है। लौकिक भ्रान्तियों में भी प्रत्येक विचारशील पुरूष को इन दोनों शक्तियों का अनुभव अवश्य होता है। क्योंकि अधिष्ठान के सत्य रूप को जब तक नहीं ढका जाता उसमें नवीन पदार्थ की स्थाना कभी नहीं की जाती है।जबतक भ्रान्ति की उत्पत्ति नहीं हो जाती जिस प्रकार एक बाजीगर अपने कला के द्वारा कंकड़ को आकाश में उछालकर सिक्के के रूप में उन्हे पृथ्वी पर गिराता है वह बाजीगर वहाँ कंकड़ के असली रूप को छिपाकर दूसरे रूप में प्रकट करता है ठीक उसीकेसमान ब्रह्म ज्यों का त्यों रहता है परन्तु यह जगत् आकाश पृथ्वी आदि नाना पदार्थों में माया के कारण वह ब्रह्म प्रतीत होता है। अर्थात् ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को सगुण रूप प्रदान कर उससे सम्पूर्ण जगत् का स्वरूप सर्जित कराना माया का ही कार्य है। यह माया अपने आवरण रूप शक्ति से वस्तु के वास्तविक रूप को छिपा लेती है। और उसी वस्तु में नवीन स्वरूप को प्रकट कर देती है। यही है माया की विलक्षणता। यह माया आवरण शक्ति से ब्रह्म के वास्तविक रूप को छिपाकर उसको विक्षेप शक्ति के द्वारा जगतरूप में आभसित करती है। सर्वत्र इसका यही कार्य है परन्तु जिस प्रकार बाजीगर अपने प्रदर्शित विलक्षण कार्यों से दूसरों को प्रभावित करता है स्वयं प्रभावित नहीं होता उसी तरह परमेश्वर अपनी अनिर्वचनीय माया से दूसरे को

ही प्रभावित करता है, स्वयं प्रभावित नहीं होता। जब जीव को माया के इस अनिर्वचनीय विलक्षण स्वरूप का वास्तविक ज्ञान हो जाता है तभी वह अपने सत् स्वरूप को जानकर माया से अपने को पृथक करके शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता है और वही व्यक्ति अहं ब्रह्मास्मि के रूप में आत्मतत्त्वानुभूति होने पर मोक्ष का अधिकारी बनता है। कर्मवश शरीर धारण करता हुआ भी जीवन मुक्त हो जाता है।

जगत् - अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार केवल ब्रह्म ही सत् पदार्थ है उससे अभिन्न सम्पूर्ण वस्तु जात असत् है। इस प्रकार ब्रह्म व्यतिरिक्त जगत् भी असत् वस्तु है। क्योंकि ब्रह्म के निर्गुणा-वस्था में जगत् की सत्ता नहीं है। तथैव आत्मानुभूति होने के पश्चात् जगत् नहीं रहता । अत: जगत् मिथ्या ही कहा जाता है मिथ्या का लक्षण है-

नित्य परिवर्तनशील या परिणामस्वभाव ही जगत् है। परिणाम प्रवृत्ति या परि-वर्तन ही जगत् का मुख्य लक्षण है। एक लक्षण के लिए भी जगत् प्रवृत्ति से रहित नहीं होता जो निरन्तर चलता रहे वही जगत् कहा जाता है- गच्छति इति जगत्। सत्य का लक्षण आचार्य शंकर ने "यद्रूपेण यन्निश्चितं तद् रूप न व्यभिचरति यत् सत्यम्"। इस प्रकार किया है। तात्पर्य यह है कि जिसका जो स्वरूप है और वह रूप उसका निश्चित है किसी भी अवस्था में व्यभिचरित नहीं होता अर्थात् उसमें परिवर्तन या अभाव नहीं होता उसे सत्य कहते हैं। सत्य का यह लक्षण संसार में घटित नहीं होता। क्योंकि इसकी एक रूपता अनि-श्चित है उसमें निरन्तर परिवर्तन भी होता है और परमतत्त्वानुभूति होने पर इसका अभाव भी देखा जाता है। अत: जगत् सत्य नहीं कहा जा सकता।

शंकराचार्य जगत् को पूर्ण असत् नहीं मानते स्वप्न के समान इसकी मिथ्या रूपता मानना उचित नहीं। क्योंकि शंकराचार्य तीन प्रकार की सत्ता स्वीकार करते हैं। पारमार्थिकी, व्यावहारिकी, प्रतिभासिकी। ब्रह्म की पारमार्थिकी सत्ता जगत् की व्यावहारिकी सत्ता रज्जु में सर्पादि की प्रातिभासिकी सत्ता इस प्रकार जगत् व्यावहारिकी सत्ता में सत्य है किन्तु पारमार्थिक सत्ता में यह असत् माना जाता है। व्यवहार में जगत् कहीं भी बाधित प्रतीत नहीं होता। सर्वत्र इसका स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि विज्ञानवादी जगत् को पूर्णरूपेण असत् मानते है किन्तु व्यावहारिकी सत्ता में जगत् का मिथ्यात्व स्वीकार करना पर्याप्त भोजन करके भी उसको असत रूप में स्वीकार करके अपने को तृप्त होते हुए भी अतृप्त रूप में समझना कहलायेगा। अत: ब्रह्म की पारमार्थिकी सत्ता है जो वह ब्रह्म निर्गुण, निराकार नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप है। किन्तु मायोपहित चैतन्य ब्रह्म ईश्वर रूप में अवस्थित हो, तथा शरीरवच्छिन्न चैतन्य जो अविद्या के व्यष्टि रूप से उपहित है, जीव तथा सम्पूर्ण पृथ्व्यादि तत्त्वों एवं पदार्थों से युक्त इस संसार की व्यावहारिकी सत्ता मानना ही सिद्धान्त के अनुसार सर्वथा उचित माना जाता है। इस संसार का अभाव केवल पारमार्थिकी सत्ता में ही है, अन्यत्र नहीं।

<u>सत्ताभेद</u> - अद्वैत वेदान्त में पदार्थों की विद्यमानता तीन प्रकार से स्वीकार की गई है। प्रथम वह जिसका कभी भी बाध न हो सर्वदैव स्थित रहे। दूसरी, परम तत्त्व के प्राप्ति पर्यन्त स्थित रहे। परम तत्त्व के प्राप्ति के अनन्तर ही उसका बाध हो और तीसरी वह है जिसका प्रथम दृष्टया वस्तु विशेष के रूप में स्थिति रहने पर भी द्वितीय दृष्टया शीघ्र ही बाध हो। यही पदार्थों की विद्यमानता सत्ता के नाम से जानी जाती है। ब्रह्म तत्त्व ज्ञान होने पर केवल ब्रह्म ही ऐसा है जिसका अभाव कभी ज्ञात नहीं हो सकता है क्योंकि वह केवल

सत् पदार्थ है। तद्भिन्न सबकुछ असत् है। इसलिए ब्रह्म की पारमार्थिकी सत्ता मानी जाती है। जब ज्ञानी की दृष्टि से जगत् को देखते हैं तभी वह हमें असत्य प्रतीत होता यद्यपि यह संसार हमारी इन्द्रियों के लिए सत्य है। हम जो भी पदार्थ देखते हैं जो ग्रहण करते हैं उसको उस रूप में उसे पूर्णरूप से ग्रहण करते है इसलिए हमें संसार सत्य ही प्रतीत होता है परन्तु वह वास्तविक रूप में सत्य नहीं है इसलिए तत्त्व ज्ञान के अनन्तर केवल तत्त्वज्ञानी को ही यह संसार असत्य प्रतीत होता है। अन्य सामान्य जन संसार को सत्य रूप में ही स्वीकार करता है। तत्त्वज्ञानी की दृष्टि उस दिव्यता को प्राप्त कर लेती है जिससे उसे ब्रह्म के अतिरिक्त सम्पूर्ण वस्तुजात असत् रूप में ज्ञात हो जाता है केवल ब्रह्म ही सत् रूप में प्राप्त होता है। ब्रह्म का कदापि बाध न होने के कारण वह परमार्थ है, सत्य है, और उसकी पारमार्थिकी सत्ता है।

सामान्य रूप सेसंसार के सभी पदार्थों का अपनी इन्द्रियों के माध्यम से तत् तत् रूप में ग्रहण करते हैं, उनका उपभोग करते हैं और इन्द्रियों के द्वारा उन-उन कार्यों के सम्पादन के समय हम ऐसा अनुभव करते हैं कि हम अमुक कार्य का सम्पादन कर रहे हैं। सामान्यतया उन संसारिक वस्तुओं का कभी भी बाध दृष्टिगोचर नहीं होता। उसी रूप में ही सर्वदैव प्रतीति होती है। जगत के सम्पूर्ण पदार्थ अपने जिस रूप में इन्द्रियों से गृहीत होते हैं उसी रूप में ही वे पूर्णतया व्यवहार का विषय बनते हैं। अतः उनका व्यावहारिक स्वरूप सर्वदैव प्रतीति का विषय बनता है।

जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों में [1] पाँच धर्म दृष्टिगोचर होते हैं। अस्ति, भाति, प्रिय, रूप तथा नाम। इनमें प्रथम तीन ब्रह्म के रूप है और अन्तिम दो जगत के। सांसारिक पदार्थों का न तो कोई नाम पूर्व निर्धारित रहता है और न ही कोई रूप वे जैसे जैसे व्यवहार के विषय बनते हैं उसी के अनुसार उनके नाम और स्वरूप व्यवहार के विषय बनते है। क्योंकि नाम और रूप वस्तुओं के व्यवहार के लिए नितान्त आवश्यक है। इसीलिए व्यवहार जगत में उनकी उस रूप में प्रतीति होने के कारण यह सम्पूर्ण संसार तथा तद्गत वस्तुजात की व्यावहारिकी सत्ता मानी जाती है। इसके विषय में [2] आचार्य शंकर कहते है कि ब्रह्मतत्त्व के ज्ञान के पहले ही सम्पूर्ण व्यवहारों की सत्ता प्राप्त होती है। ब्रह्म तत्त्व ज्ञान के पूर्व सम्प्राप्त सम्पूर्ण लौकिक और वैदिक कार्य विशेष की व्यावहारिक सत्ता ही मानी जाती है। इस तरह ब्रह्म ज्ञान को पूर्व संसार की व्यावहारिक सत्ता ही मानी जाती है।

---

1. अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् ।
   आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ।।

   {दृग्दृश्यविवेक, श्लोक 20}

2. "सर्वव्यवहाराणामेव प्राग् ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः। प्राग् प्रत्य-त्मता- प्रतिबोधाद् उपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः।"

   {ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य 2·1·14}

कुछ ऐसे भी पदार्थ है जो प्रथम दृष्ट्या किसी अन्य रूप में तथा द्वितीय दृष्ट्या उससे भिन्न रूप में प्रतीति के विषय बनते हैं। उन पदार्थों की प्रथम दृष्ट्या जिस रूप में प्रतीति होती है अर्थात् जो स्वरूप उनका प्रतिभाषित होता है उसकी प्रातिभासिकी सत्ता मानी जाती है, जैसे कुछ अंधकार की स्थिति में कमरे में पड़ी हुई हल्की, मोटी, टेढ़ी अवस्था से युक्त रस्सी सर्प के रूप में प्रतिभासित होती है। उस अवस्था में यह सर्प ही है ऐसा ही प्रतीति होता है। और उससे भय आदि मनोदशायें भी होती है। यह अवस्था उस सर्प रूप में प्रतिभासित होने की जो बनती है उसको प्रातिभासिकी सत्ता कहलाती है। अर्थात् उस समय सर्पज्ञान प्रातिभासिक सत्ता में रहता है। किन्तु प्रकाश आदि के द्वारा जब उस कमरे में उस रज्जु का पुन: द्वितीय दृष्ट्या अवलोकन होता है तो वह रज्जु के रूप में ही प्रतीत होती है। इसी तरह शुक्ति में प्राप्त रजत ज्ञान, स्थाणु में पुरुष ज्ञान की प्रातिभासिकी सत्ता मानी जाती है। जितने भी भ्रमात्मक ज्ञान है सभी की प्रातिभासिकी सत्ता मानी जाती है। ब्रह्म में रज्जु में सर्प के समान इस जगत का भ्रम जो अज्ञानी को होता उसकी भी प्रातिभासिकी सत्ता मानी जाती है। इस भ्रमात्मक ज्ञान के विषय में माण्डूक्य कारिका में भी पूर्वोक्त कथन निरूपित किया गया है।

1· रज्जवात्मनाऽवबोधात् प्राक् सर्प: सन्नेव भवति ।
सतो विद्यमानस्य वस्तुनो रज्जवादे: सर्पादिवद् जन्मयुज्यते।।

"माण्डूक्यकारिका 3/27 भाष्य "

अध्यारोप - अद्वैत वेदान्त की सम्पूर्ण भित्ति अध्यारोप पर ही स्थित है। आचार्य सदानन्द ने "वस्तुनि अवस्तवारोप: अध्यारोप:" यह लक्षण अध्यारोप का किया है। वेदान्तनय भूषण कार 'अध्यासश्च तद्भावति तद्बुताज्ञानमेव' यह लक्षण अध्यारोप का (अध्यास का) किया है। आचार्य शंकर ने "अध्यासोनामऽतस्मिन् तद् बुद्धि" इस प्रकार इसका लक्षण किया है। इन सभी लक्षणों का एक ही तात्पर्य है कि किसी सद् वस्तु में अन्य धर्म विशिष्ट रूप में उसका ग्रहण करना। जैसे रज्जु में जो कि वस्तु है सर्पत्व का आरोप करके सर्प रूप में उसका ज्ञान करना अध्यास कहलाता है। ठीक उसी ढंग से सच्चिदानन्द ,अद्वैत ब्रह्म जो कि वस्तु है। उसमें अज्ञानादि, सकल जड़ समूह रूप संसार जो अवस्तु है उसका आरोप करके उसी रूप में उसका ज्ञान करना अध्यारोप कहा जाता है। जैसे व्यक्ति स्त्री पुत्रादि से सम्मानित या असम्मानित होने पर अपने को पूर्णरूपेण सत्कृत या असत्कृत समझता है। उसी प्रकार व्यक्ति इन्द्रियादि के धर्मों के आरोप के कारण ही वह अपने को स्थूल या कृष, चलने वाला या खड़े होने वाला इत्यादि रूप में अनुभव करता है। अध्यास क्यों चला कब से चला इसका वर्णन आचार्य ने शारीरक भाष्य के प्रारम्भ में ही किया। जगत् में द्विविध पदार्थों की सत्ता अनुभूयमान विषयी तथा विषय सामने दृष्टिगोचर विषय में अन्य विषय का आरोप अध्यास माना जाता है परन्तु आत्मा विषयी है, अत: विषयी आत्मा में अध्यास नहीं बनता। आचार्य शंकर आत्मा को भी असमत् प्रत्यय का विषय होने के कारण उसे विषय माना और कर्तृत्व, भोतृत्व, प्रवर्तक इस अध्यास की स्वाभाविक अनादि तथा अनन्त बतलाया। यह अध्यास पशु आदि प्राणियों में भी मनुष्य के समान पाया जाता है। अध्यास एवं अध्यारोप ये दोनों शब्द प्रर्याय के रूप में माने जाते है, यह अध्यारोप या अध्यास की निवृत्ति आत्मतत्त्व ज्ञान से ही होती है और यही वेदान्त का प्रधान लक्ष्य है।

अपवाद- वेदान्त सार में "अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद् वस्तुविवर्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्।" इस प्रकार अपवाद का लक्षण बताया गया है। विद्वन् मनोरंजिनीकार ने [2]"कार्यस्य कारणमात्रसत्तावशेषणं, कारणस्वरूपव्यतिरेकेण कार्यस्यासत्तावधारणं वापवादः"। यह लक्षण अपवाद का माना है। [3]सूत संहिता में "अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पित वस्तुनः" इस प्रकार अपवाद का स्वरूप बताया है।

जिस प्रकार दीपक का प्रकाश लाने पर रज्जु में सर्प की प्रतीति का जो निश्चय था वह मिथ्या के रूप में ज्ञात हो जाने के बाद केवल आधारभूत रज्जु ही अवशिष्ट रहती है, सर्प सम्बन्धी ज्ञान समाप्त हो जाता है। और उस ज्ञान के प्रति कोई राग नहीं रहता। क्योंकि मिथ्या के रूप में ज्ञात हो जाने पर वह उपेक्षणीय हो जाता है। ठीक उसी तरह से ब्रह्म में भी जो जगत् की भ्रान्ति है उसका श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन का दीर्घ काल तक निरन्तर अभ्यास करते करते जब ज्ञान रूपी दीपक उदय हो जाता है तब समस्त सृष्टि के मिथ्यात्व का निश्चय होने पर नाश हो जाता है और उस भ्रम का अधिष्ठानभूत नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म मात्र का ही ज्ञान होता है इसी को अपवाद कहते है।

अध्यारोप के द्वारा सृष्टि का क्रम बनता है और अपवाद के द्वारा सृष्टि का प्रलय ज्ञात होता है। और उसी अध्यारोप तथा अपवाद के ज्ञान होने के पश्चात् ब्रह्म के पूर्णस्वरूप का बोध जिज्ञासु व्यक्ति को होता है।

---

1. वेदान्तसार खण्ड-47,
2. विद्वनमनोरंजिनी अपवाद् प्रकरण
3. सूत संहिता 4.2.8

विवर्तवाद- विवर्तवाद अद्वैत वेदान्त में एक महत्त्वपूर्ण विषय है। इसी के समान परिणाम वाद भी कई दार्शनिकों के द्वारा अभिमत है जहाँ वेदान्ती लोग जगत् को ब्रह्म के विवर्त मानते है वहीं सांख्य प्रवृत्ति दार्शनिक जगत् को परिणाम स्वीकार करते है। वेदान्तसार में परिणाम तथा विवर्त का लक्षण इस प्रकार उधृत हुआ है-[1]

"सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः ।
अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदाहृतः ।।"

किसी वस्तु विशेष से जब कोई उसका दूसरा स्वरूप प्राप्त होता है जो किसी न किसी रूप में मूलबद्ध से सम्बद्ध रहता है तो वह विकार या परिणाम के नाम से जाना जाता है जैसे दूध से परिवर्तन उससे सम्बद्ध दही दुग्ध का परिणाम है। जो वस्तु जिस रूप में प्रतीत हो रही है वह मूलभूत वस्तु से असम्बद्ध होकर किसी अन्य रूप में जब प्रतीत होती है तो वह मूल वस्तु का विवर्त कहलाती है जैसे रज्जु में सर्पज्ञान। वस्तु रज्जु में रज से असम्बद्ध होते हुए इसका सर्प रूप ज्ञान रज्जु का विवर्त है। इसी को ध्यान में रखकर सत्ताभेद के द्वारा ही विवर्ततथा परिणाम के दूसरे लक्षण भी स्वीकार किये जा सकते हैं जैसे मूल वस्तु तथा परिणाम की एक ही सत्ता रहती है और अद्वैत वेदान्त के अनुसार वह व्यावहारिक सत्ता मानी जाती है जैसे दूध एवं दही दोनों की व्यावहारिक सत्ता है किन्तु विवर्तवाद में ऐसा नहीं है वह मूल वस्तु की दूसरी सत्ता होती है तथा इससे अन्यरूप में अवभासित

---

1. वेदान्तसार -खण्ड-47

वस्तु की दूसरी । यथा रज्जु की व्यावहारिकी सत्ता तथा रज्जु में अवभासित सर्प की प्रातिभासिकी सत्ता होती है। इस प्रकार[1] उपादान कारण के समान सत्तावाली कार्यो-त्पत्ति को परिणाम तथा[2] उपादान कारण के विषम सत्ता वाली कार्योत्पत्ति को विवर्त कहते है।

ब्रह्म की पारमार्थिकी सत्ता और संसार के व्यावहारिकी सत्ता है इस प्रकार उपादान कारण या अधिष्ठान ब्रह्म की पारमार्थिकी सत्ता से भिन्न व्यावहारिकी सत्तावाली संसार की कार्योत्पत्ति हो रही है इस लिए संसार ब्रह्म का विवर्त माना जाता है। और ईश्वर की भी व्यावहारिकी सत्ता मानी जाती है इसलिए अधिष्ठान ईश्वर रूप उपादान कारण के व्यावहारिकी सत्ता के समान व्यावहारिकी सत्ता वाले जगत् रूप कार्य की उत्तत्ति होने के कारण ईश्वर का यह संसार परिणाम है।

सृष्टि क्रम - अद्वैत वेदान्त में सृष्टि का क्रम निर्गुण, अद्वैत, चैतन्य, नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त-स्वरूप परब्रह्म से न होकर माया से उपहित ब्रह्म से होता है। यही ब्रह्म ईश्वर के नाम से अद्वैत वेदान्त में जाना जाता है। जो परब्रह्म माया से उपहित होता है वह प्रक्रिया अध्यारोप की मानी है। जैसे वस्तु रज्जु में अन्धकार आदि होने पर सर्प की प्रतीति होती है और उससे भय आदि मनोविकार उत्पन्न होते है ठीक उसी तरह अन्धकार रूप माया

---

1. उपादानकारण सत्ता सम सत्ताक कार्योत्पत्ति: परिणाम:।

2. उपादान कारण सत्ता विषम सत्ताक कार्योत्पत्ति: विवर्त:।

से ढक जाने पर ब्रह्म जगत् रूप में प्रतीत होता है। यह माया रूप अविद्या के दो भेद है—एक समष्टि और व्यष्टि। जैसे वृक्षों के समष्टि रूप में बन का व्यवहार होता है और व्यष्टि रूप में वृक्ष का, उसी तरह उस ब्रह्म में नानारूप में प्रतिभासित होने वाले जीवगत अज्ञानो का समष्टि के अभिप्राय से एकत्व का व्यपदेश होता है। यह समष्टि उत्कृष्ट उपाधि है। इसलिए विशुद्ध सत्त्व प्रधान है। इससे उपहित चैतन्य सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता, अव्यक्त, अन्तर्यामी, जगत् का कारण ईश्वर कहा जाता है। क्योंकि यह सम्पूर्ण अज्ञान का अवभास कराने वाला है इसीलिए यह [1] " सर्वज्ञः ससर्ववित" यह वाक्य श्रुति के द्वारा उद्बोधित है। जैसे बन की व्यष्टि के अभिप्राय से वृक्ष यह व्यवहार देखा जाता है उसी प्रकार अज्ञान के व्यष्टि के अभिप्राय से अनेकत्व का व्यवहार होता है और व्यष्टि निकृष्ट उपाधि होने से मलिन सत्व प्रधान है। इससे उपहित चैतन्य अल्पज्ञ अनिश्वर तथा प्राज्ञ कहा जाता है। क्योंकि यह एक अज्ञान का ही अवभास होता है। इन दोनों ईश्वर तथा प्राज्ञ में समष्टि व्यष्टि रूप बन तथा वृक्ष के समान अभेद है। इस प्रकार उस समष्टि रूप अज्ञान से उपहित चैतन्य जो तमः प्रधान विक्षेप शक्ति से युक्त है उससे आकाश की उत्पत्ति होती है आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, तथा जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है और इन्हीं पाँचों तत्त्वों से सूक्ष्म शरीरों की तथा स्थूल शरीरों की उत्पत्ति होती है। सूक्ष्म

---

1. मुण्डकोपनिषद् 1·1·9

शरीर के 17 अवयव वाले लिङ्ग शरीर माने जाते हैं और वे अवयव पाँच ज्ञानेन्द्रियां,श्रोत, त्वच,जिह्वा,घ्राण,चक्षु, पाँच कर्मेन्द्रियाँ-वाक्,पाद , पाणि,पायु,उपास्थ, पाँच वायु प्राण अपान व्यान,समान, उदान तथा बुद्धि और मन ये है। इनमें ज्ञानेन्द्रियां आकाशादि पञ्च तत्त्वों के पृथक्-पृथक सात्त्विक अंशों से क्रमश: उत्पन्न होते है। निश्चयात्मिका अन्त:-करण वृत्ति को बुद्धि कहते है तथा संकल्प विकल्पात्मिक अन्तकरण वृत्ति को मन कहते है। इन दोनों में चित्त और अहंकार का भी अन्तर भाव हो जाता है पुन: ये सब आकाशादि में रहने वाले मिलित सात्त्विक अंशों से उत्पन्न होते है। ये सब सात्त्विक अंशों के कार्यमाने जाते है। यह बुद्धि ज्ञानेन्द्रियों के सहित विज्ञानमय कोश होती है, और इस विज्ञानमय कोश से युक्त चैतन्य, कर्तृत्त्व, भोक्तृत्व, सुखीत्व,दु:खीत्वादि अभिमान रखने के कारण यहीं पर इस लोक तथा परलोक में गमन करने वाला व्यावहारिक जीव कहलाता है। इन्हीं ज्ञानेन्द्रियों के सहित मन मनोमय कोश बनाता है। वाक् पाणि आदि कर्मेन्द्रियाँ आशादि पञ्च तत्त्वों के पृथक्-पृथक रज अंश से क्रमश: उत्पन्न होती है। प्राण,अपान,व्यान, उदान,समान इन पाँच वायुओं में आगे की ओर जाने वाला नासिका के अग्रभाग में स्थित प्राणवायु है, नाभि से नीचे की ओर जाने वाला वायु में स्थित अपान वायु है, सम्पूर्ण शरीर में गमन करने वाला सम्पूर्ण शरीर में स्थित व्यान वायु है, कंठ स्थान में रहने वाला उर्ध्व गमन करने वाला उदान वायु है, शरीर के मध्य में भुक्त एवं पीत अन्न रसादि का समीकरण करने वाला समान वायु कहलाता है। ये सभी प्राणादि वायु आकाशादि में रहने वाले मिलित रजस अंश से उत्पन्न होते है और ये प्राणादि वायु कर्मेद्रियों के साथ मिलकर

प्राणमय कोश बनाते है। और यह प्राणमय कोश रजोगुण का कार्य माना जाता है। इन तीनों कोशों में ज्ञान शक्तिमान कर्तृरूप विज्ञानमय कोश, इच्छाशक्तिमान करणरूप मनोमय कोश तथा क्रियाशक्तिमान कार्यरूप प्राणमय कोश होता है। इस प्रकार इन तीनों कोशों को मिलने पर सूक्ष्म शरीर का स्वरूप बनता है।

स्थूलभूत आकाशादि पञ्चीकृत होते हैं। इन पाँचों आकाशादियों में एक-एक के बराबर दो-दो भाग करके उन दशों भागों में प्रथम पाँच भागों के प्रत्येक को चार भागों में बराबर विभक्त करके उन चारों भागों के अपने-अपने द्वितीय अर्द्धभाग के परित्याग के द्वारा अन्य भागों के साथ जोड़ना पञ्चीकरण कहलाता है। इसका पूर्ण विवरण इस प्रकार है-

पृथ्वी = 1/2 पृथ्वी + 1/8 जल + 1/8 तेज + 1/8 वायु +1/8 आकाश
जल =1/2 जल +1/8पृथ्वी +1/8 तेज +1/8 वायु +1/8 आकाश
तेज =1/2 तेज +1/8 पृथ्वी +1/8जल + 1/8 वायु + 1/8 आकाश
वायु =1/2 वायु +1/8 पृथ्वी + 1/8 जल + 1/8 तेज + 1/8 आकाश
आकाश=1/2 आकाश +1/8 पृथ्वी +1/8 जल +1/8 तेज +1/8 वायु

इन पञ्चीकृत भूतों से पृथ्वीलोक के ऊपर विद्यमान भूलोग, भुवः लोग, स्वर्गलोग, महरलोक, जनलोक, तपः लोक, सत्यलोक तथा पृथ्वीलोक से नीचे विद्यमान अतल, वितल सुतल, रसातल, तलातल, महातल, लोकों को ब्रह्माण्ड का और उसमें विद्यमान चार प्रकार के स्थूल शरीरों की तथा उनके लिए आवश्यक अन्न पान आदि की उत्पत्ति होती है। जरायुज, अंडज, उद्भिज तथा स्वेदज ये चार प्रकार के शरीर माने जाते हैं। जराय अर्थात् गर्भाशय से उत्पन्न होने वाले मनुष्य पशु आदि के शरीर जरायु है। अंडों से उत्पन्न होने

वाले पक्षी , सर्प, सरीसृप आदि अंडज शरीर वाले माने जाते हैं। भूमि का भेदन करके उत्पन्न होने वाले तृण तथा वृक्ष आदि उद्भिज शरीर वाले माने जाते हैं। पसीने से उत्पन्न होने वाले जुआ, मशक आदि स्वेदज शरीर वाले माने जाते हैं। इन सब चारों प्रकार के स्थूल शरीरों को अनेक बुद्धि का विषय बनाया जाय तो ये पृथक-पृथक रूप में प्रतीत होते है। किन्तु यदि इनको एक बुद्धि का विषय बनाया जाय तो उस समष्टि से उपहित चैतन्य वैश्वानर विराट कहा जाता है। यह स्थूल शरीर अन्न का विकार होने से अन्नमय कोश और स्थूल भोग का आधार होने से स्थूल शरीर तथा जागृत कहा जाता है। इस व्यष्टि से उपहित चैतन्य विश्व कहा जाता है क्योंकि यह अपने सूक्ष्म शरीर के अभिमान को छोड़कर स्थूल शरीर आदि में प्रविष्ट होता है। इसको भी व्यष्टि स्थल शरीर अन्न का विकार होने से अन्नमय कोश तथा जागृत कहा जाता है। ये दोनों विश्व तथा वैश्वानर, दिक्, वायु, सूर्य, वरुण और अश्विनी कुमारों के द्वारा क्रमशः नियन्त्रित ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा शब्द स्पर्श, रूप रस गन्ध का, अग्नि इन्द्र उपेन्द्र यम तथा प्रजापति के द्वारा क्रमशः नियन्त्रित कर्मेन्द्रियों के द्वारा वचन , आदान, गमन विसर्ग तथा आनन्द का, चन्द्र ब्रह्मा, शंकर तथा विष्णु के द्वारा नियंत्रित , मन बुद्धि अहंकार तथा चित्त के द्वारा संकल्प, निश्चय , अहंकार तथा स्मरण इन सभी स्थूल विषयों का अनुभव करते हैं। इन स्थूल व्यष्टि तथा समष्टि से उपहित चैतन्य विश्व और वैश्वानर में वन तथा वृक्ष के समान अभेद है।

इन स्थूल तथा सूक्ष्म कारण प्रपञ्चों को समष्टि एक महान प्रपञ्च होता है। जिस प्रकार आवान्तर वनों की समष्टि एक महान वन कहा जाता है। इन दोनों महा प्रपञ्चों से उपहित चैतन्यों के द्वारा तप्त अयः पिण्ड के समान अपृथक रूप में स्थित अनुपहित चैतन्य ब्रह्म होता है। यही सृष्टि का पूर्ण क्रम है।

आत्मानुभूति- किसी भी कार्य के प्रति प्रवृत्ति तभी होती है जब हमें ये ज्ञान हो कि उस कार्य को सम्पादन में अपना सामर्थ्य रखते हैं तथा उस कार्य का सम्पादन हमारे लिए लाभकर है। इन दोनों में से किसी एक का ज्ञान न होने पर व्यक्ति की कार्यविशेष में प्रवृत्ति नहीं होती। अतः इन दोनों का ज्ञान आवश्यक है। संसार में भौतिक सुखदुखों से घबड़ाकर व्यक्ति शान्ति का मार्ग चाहता है। यह सुन्दर संसार भी उसे कष्टकर प्रतीत होती है। उसे यह अनुभव होता है कि यह सब कुछ अपना नहीं है सब पराया है। उसे अपनी बुद्धि कुछ संसार के विषय में संदिग्ध सी प्रतीत होती है और वह किसी परमविद्वान आचार्यवान् ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप में उनके सेवादि कार्य से सम्बन्धित वस्तुविशेष को उपहार में लेकर जाता है। गुरू सब से पहले उसे परम ज्ञान का अधिकारी बनाता है। सर्वप्रथम यह सम्पूर्ण संसार अनित्य है केवल ब्रह्म ही सत्य है इसको बताकर तदन्तर मन का एकाग्रता, इन्द्रियों का दमन, बाह्य प्रवृत्तियों की अपेक्षा, दुःखों को सहन करने की शक्ति, श्रवणादि के द्वारा चित्त की एकाग्रता श्रद्धा अर्थात् गुरु तथा वेदान्त वाक्यों में अटूट विश्वास और मोक्ष प्राप्ति की प्रबल इच्छा इन गुणों का आधान करता है। तभी वह वेदान्त विद्या प्राप्ति का अधिकारी बनता है। वह ब्रह्म जिज्ञासु पूर्वोक्त गुणों से युक्त शिष्य, दया सिन्धु ब्रह्मविज्ञानी गुरू के शरण में जाकर उनसे आत्मा के विषय में प्रश्न

करता है और गुरू उसे अध्यारोप तथा अपवाद विधि से यह बताते है कि जिस प्रकार रज्जु में भ्रमादि सर्प की प्रतीति होने पर भी वह सर्प न होकर रज्जु रूप में ही भ्रम नाश होने पर ज्ञात होता है। उसी उसी प्रकार आत्मा भ्रमात इस संसार का बोध होने पर वास्तविक रूप में ज्ञात होने पर संसार असत् रूप में और आत्मा सत् रूप में ज्ञात होता है। गुरू निष्प्र-पञ्च ब्रह्म में जगत् का किसी प्रकार आरोप होता है इसको बतलाकर आरोपित वस्तु का एक-एक करके निराकरण करता है और तब उसे अपने आत्मतत्त्व की अनुभूति होती है उसे पूर्णतया यह ज्ञान हो जाता है कि सत्त्व त त्व आत्मा ही है उसके अलावा अन्य प्रत्येक वस्तु असत् है। इसी आत्मानुभूति के उदय होने से उसे सांसारिक दुख सुखादि की पुन: अनुभूति नहीं होती वह आत्मतत्त्व में ही रमण करता है।

<u>मोक्ष</u> - मोक्ष शब्द का अर्थ होता है-छुटना। यहाँ भी कर्मबन्धन का छुटना तथा सांसारिक वस्तु व्यक्ति : आदि से सम्बन्धों का छुटना उसका असत् रूप में प्रतीत होना केवल परम-तत्त्व ब्रह्म का ही "अहंब्रह्मास्मि" इस रूप में भेद भाव विहित ज्ञान मोक्ष के रूप में स्वीकार किया जाता है। अद्वैत वेदान्त परम ब्रह्मानुभूति को ही मोक्ष मानता है। यद्यपि अन्य दार्श-निकों के यहाँ इसका स्वरूप पृथक-पृथक है फिर भी कर्म बन्धन विमुक्त ब्रह्मनुभूति ही अद्वैत वेदान्त में मोक्ष माना जाता है। मुमुक्षु व्यक्ति गुरू के द्वारा उपदिष्ट वाक्यों का श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा आत्मा तथा ब्रह्म के एकत्व का पूर्ण ज्ञान और सच्चा बोध करता है । उसे यह एकत्व ज्ञान अपरोक्ष रूप से होता है अपरोक्ष ज्ञान स्वानुभूति पर आश्रित है। साधक को गुरू उपदेश देता है कि तुम स्वयं चेतन ब्रह्म हो {तत्त्वमसि}। साधक निरन्तर

उसउपदेश का मनन तथा निदिध्यासन करके "अहं ब्रह्मस्मि" इत्याकारण अनुभव प्राप्त करता है इससे जीव और ब्रह्म का मिथ्या भेद छट जाता है और इसी के साथ इसके कर्म बन्धन भी कट जाते है और वह मोक्ष का साक्षात् अनुभव करता है।

मोक्ष प्राप्त करने के बाद भी शरीर की स्थिति तबतक बनी रहती है जबतक प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त नहीं हो जाता यद्यपि वह व्यक्ति संसार में रहता हुआ भी संसार के व्यावहारिक स्वरूप से परे होने के कारण संसार में नहीं रहता। उसे मोह शोक आदि की बाधा नहीं होती नहीं कोई भी दुख सुख उसे उद्वेलित करती है इसलिए वह जीवन मुक्त होता है। क्योंकि जीते हुए भी दुख एवं सुख से वह मुक्त रहता है।

कर्म तीन प्रकार के होते है-

1• संचित - जो पूर्व जन्म से ही एकत्रित हुए है।

2•प्रारब्ध- जिनका पूर्व जन्म से ही कर्मफल भोग प्रारम्भ है।

3• संचीयमान- जो इस जन्म में किये जा रहे है। इनमें तत्त्वज्ञान से संचित तथा संचीयमान कर्मों का नाश तो हो जाता है किन्तु जिन प्रारब्ध कर्मों के कारण इस शरीर की प्राप्ति हुई है उन कर्मों का भोग पूरा होने तक शरीर अवश्य रहता है। प्रारब्ध कर्मों के समाप्त होने पर जीव के स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीरों का अन्त हो जाता है और उसे विदेह मुक्ति प्राप्त होती है।

मुक्ति कोई अलग पदार्थ नहीं है जिसे कहीं खोजा जाय जीव तो स्वभाव से ही मुक्त है मुक्ति न तो प्राप्त है और न उत्पाद्य। परन्तु जीव इसे भूलकर बाहर ढूढ़ता है

गुरू उपदेश से अज्ञान एवं भ्रम को दूर कर परम विवेक उसमें उत्पन्न करता है। और वह जीव स्वाभाविक मुक्ति को प्राप्त कर प्रसन्न होता हैं मुक्त पुरूष ब्रह्म से अपने को अपृथक अनुभव करता है और उसे सम्पूर्ण दुखों का अभाव तथा परम आनन्दानुभूति होती है। अज्ञान के आवरण से सजाने के कारण ब्रह्मज्ञान के आलोक से आलोकित हो जीव ब्रह्म की अनुभूति से कृत्यकृत हो जाता है।

0 0 0 0 0

0 0 0

0

द्वितीय अध्याय

(अ) मिताक्षरा की प्रतिपादन शैली

(आ) इसकी उपादेयता तथा वृत्तिकार की उद्देश्य में सफलता

(इ) मिताक्षरा वृत्ति पर शांकर भाष्य का प्रभाव

(ई) मिताक्षरा वृत्ति ग्रन्थ एवं शारीरक भाष्य ग्रन्थ के प्रतिपादन का स्वरूप

(उ) मिताक्षरा एवं शारीरक भाष्य ग्रन्थ की तुलना

(ऊ) मिताक्षरा वृत्ति एवं भाष्य ग्रन्थ की समीक्षा

मिताक्षरा की प्रतिपादन शैली

अन्नम्भट्ट ब्रह्मसूत्र की मिताक्षरा वृत्ति के लेखन में सरल,सुबोध,साधारण मनुष्यों के लिए जिन्हें सामान्य संस्कृत का ज्ञान है और वेदान्त से सम्बन्धित विषयों को जानना चाहते है तदर्थ भाषा का प्रयोग किया है। सूत्रों के व्याख्यान में इनकी शैली सूत्र के स्वरूप को पूर्णरूप से प्रकट कर सम्बन्धित विषय को पूरी तरह से स्पष्ट करती हुई अनपेक्षित विषय वस्तु का स्पर्श न करती हुई दृष्टिगोचर होती है। जैसे अन्य व्याख्यात ग्रन्थों में लेखक वैदुष्य प्रदर्शनार्थ मूलग्रन्थ से सम्बन्धित अतिरिक्त विषय का भी उल्लेख करता है और उससे एक स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में अपनी पहचान स्थापित करता है। अन्नंभट्ट ऐसा नहीं करते। वे सूत्र से सम्बन्धित विषय का ही प्रकाशन करते है। जैसा कि मङ्गलाचरण[1] के प्रतिज्ञा वाक्य से ही यह अवगत होता है कि अपने विषय वस्तु के प्रतिपादन में इन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों का अनुसरण किया है। उनके व्याख्यान में इसका अनुपम दर्शन होता है। इनके शैलो के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत सूत्र का स्वरूप मिताक्षरा के सहित इस प्रकार है-

।। गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ।।

ईक्षतिशब्द: प्रधाने गौण इति चेतन्ना किं कारणं? आत्मशब्दात् आत्मशब्दश्रवणादित्यर्थ:। "सदेव सोम्येदमग्र आसी" दित्युपक्रम्य,"तदैक्षत तत्तेजोऽसृजतेति तेजोबन्नानां सृष्टिमुक्ता, तदेव प्रकृतं सदीक्षितृ{तानि} {तत्कर्तृकाणि} च तेजोबन्नानि देवताशब्देन परामृश्याह "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्त्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानु प्रविश्य नामरूपे व्याकरणाणि" {छा06-3-2} इति। तत्र यदि प्रधामेवेक्षितृ, तदा "सेयं देवतेति तस्यैव परामर्शात् तदात्मत्वेन जीवकोर्तनमनुपपन्नं स्यात्। आत्मा हि स्वरूपं, न च चेतनो जीव: अचेतनस्यात्मा। ब्रह्मणि तु जीवविषय आत्मशब्द उपपद्यते। तथा, "स य एषोऽणिमा ऐतदा

---

1. विश्वेश्वरं नमस्कृत्य ब्रह्मसूत्रार्थबोधिकाम् ।
   वृत्तिं मिताक्षरां कुर्वे भामत्यादिमतानुगाम् ।।

2. ब्रह्म सूत्र 1.1.6

3. मिताक्षरावृत्ति 1.1.6

त्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" (छा0 6-8-7) इत्यत्र श्वेतकेतो: जीवस्य सदात्मतादात्म्योपदेशात्। अप्तेजसोस्तु अचेतनत्वात् नैव किञ्चित् मुख्यत्वे कारणमस्तीति गौणमीक्षितृत्वम्।

इस सूत्र के वृत्ति में आरम्भ हो पद विशेष के विच्छेदन से होता है और साथ ही साथ उनके अर्थों का कथन है। तदन्तर सूत्र के व्याख्यान के लिए प्रमाणार्थ उपयोगी श्रुति वाक्यों की योजना हुई है। तदन्तर सामान्यतया शब्दों का तर्कपूर्ण विवेचन करके ईक्षति शब्द का "तदैक्षत", "तत्तेजोऽसृजत" इत्यादि रूप में प्रयोग प्रकृति के लिए गौण रूप में हुआ है, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि आत्म शब्द का प्रयोग होने के कारण ईक्षत का प्रयोग भी ब्रह्म के लिए ही है ऐसा मानना चाहिए। इस सिद्धान्त का तर्कपूर्ण समाधान हुआ है।

इसी तरह की ही शैली इन्होंने ब्रह्मसूत्रों पर वृत्ति लेखन में अपनायी। इस शैली का यद्यपि कहीं अपलाप नहीं है फिर भी जिन सूत्रों का अत्यल्प व्याख्यान उपलब्ध होता है उनमें यह पूर्णत: दृष्टिगोचर नहीं होती। उदाहरणार्थ निम्नलिखित सूत्र में उक्त अल्पता देखी जा सकती है-

।। विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ।।[1]

"किंच- विवक्षिता उपासनायां उपादेयत्वेन उपदिष्टा ये गुणास्सत्यसंकल्पादय: तेषां ब्रह्मण्येव युक्ततरत्वादित्यर्थ:।[2]

यहाँ पर सूत्रों के पदों का विच्छेद करके अर्थ का प्रदर्शन तो अवश्य है किन्तु अर्थ की पुष्टि में न ही कोई वाक्य योजना है और न ही किसी आक्षेप और समाधान का कथन हुआ है।

---

1. ब्रह्मसूत्र 1.2.2

2. मिताक्षरावृत्ति 1.2.2

जैसा इस वृत्ति ग्रन्थ के मिताक्षरा नाम से ही उसके शैली एवं स्वरूप को जाना जा सकता है। मितानिअक्षराणि अस्याम सा मिताक्षरा अर्थात् जिसमें वर्णों का प्रयोग अल्प मात्रा में हुआ हो ऐसे वृत्ति को मिताक्षरा वृत्ति कहते है। इस वृत्ति में जैसा कि पूर्व में कहा गया है सूत्रार्थ को पूर्ण स्पष्ट करने का ही सफल प्रयत्न ग्रन्थकार का प्रयत्न हुआ है। इसलिए उससे अधिक स्वरूप प्रकट करना उसे अभीप्सित नहीं है। अतएव इस वृत्ति का नाम उसके स्वरूप में चरितार्थ होता है। अन्नंभट्ट की न केवल इसी ग्रन्थ में अपितु प्राय: सभी ग्रन्थों में अल्प शब्दों में ही आत्यावश्यक विषय वस्तु का अवबोधन कराना इनकी शैली रही है। जिसके परिप्रेक्ष्य में तर्क संग्रह" ग्रन्थ न्याय विषय में, व्याकरण में "प्रदीपोद्यततं, मिमांसा में "तन्त्रवार्तिक" की टीका "सुबोधिनी" देखी जा सकती है।

अन्नंभट्ट ने विचार किया कि इन प्रौढ़ दार्शनिक विषयों के ग्रन्थ इतने अधिक दीर्घकाय तथा कठिन है कि उनके चलते सामान्य बुद्धिवाला व्यक्ति विषय विशेष के जानने के लिए साहस नहीं जुटा पाता। और चाहता हुआ भी उनके अध्ययन से वंचित रह जाता है। अतएव इन्होंने सरलभाषा में सिद्धान्त ज्ञान का लक्ष्य बनाकर अपनी इस विशिष्ट शैली के द्वारा अमूल्य ग्रन्थों का प्रणयन कर उनका महान् उपकार किया। ऐसा प्रतीत होता है कि अध्यापक अन्नंभट्ट अल्पज्ञ छात्रगत कुंठा दूर करने के लिए ही इस शैली विशेष का आश्रयण किया हो। अपने इस करुणामय भाव को न छिपा सकने के कारण ही तर्क संग्रह के मङ्गलाचरण में "बालानांसुखबोधाय" इस कथन के द्वारा हृदयगत भाव को प्रकाशित कर ही दिया। इस प्रकार कम से कम शब्दों में मूलग्रन्थ के या मूलविषय के स्वरूप को सरल सुबोध शब्दों में प्रस्तुत करना इन्होंने अपनी शैली बनाया।

मिताक्षरा वृत्ति पर शांकर भाष्य का प्रभाव

मिताक्षरा वृत्ति ब्रह्मसूत्र की वह वृत्ति है जिसमें अद्वैत सिद्धान्त को मूल रूप में स्वीकार करके ब्रह्मसूत्रों पर लिखी गयी अद्वैत दर्शन के किसी भी ग्रन्थ का प्रणयन के पश्चात् हो और उसमें शंकराचार्य कृत शारीरक भाष्य का प्रभाव न हो यह असम्भव है। क्योंकि ब्रह्म-सूत्रों पर सर्वप्रथम प्रमाणिक रूप से आचार्य शंकर के द्वारा ही भाष्य ग्रन्थ की संरचना हुई। यद्यपि ब्रह्मसूत्रों पर बोधायनकृत वृत्ति ग्रन्थ सर्वप्राचीन रूप में था और जिसका सहारा लेकर आचार्य रामानुज ने 'श्रीभाष्य' की रचना की किन्तु आचार्य शंकर बोधायन वृत्ति का उल्लेख कहीं नहीं करते। उससे यह सिद्ध होता है कि बोधायन वृत्ति में अद्वैत सिद्धान्त के विपरीत सिद्धान्तों का उल्लेख रहा होगा। शारीरक भाष्य में आचार्य गौणापाद कृत माण्डूक्य कारिका का उल्लेख माना जाता है जो अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार लिखा गया है। इसमें बौद्धों के सिद्धान्तों का खण्डन करके उपनिषद् प्रतिपाददित अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन आचार्य शंकर का इसमें भी मनोरम भाष्य प्राप्त होता है। किन्तु ब्रह्मसूत्रों पर सर्वप्रथम भाष्यग्रन्थ अद्वैत या किसी भी सिद्धान्त का प्रथम भाष्य ग्रन्थ माना जाता है। अन्नंभट्ट पर अद्वैती थे। शिव ब्रह्म तत्त्व पर उनकी पूर्ण आस्था थी। इसी लिए प्रत्येक ग्रन्थ के मङ्गलाचरण में भी "निधाय हृदि विश्वेशम्"[1], "विश्वेश्वरं नमस्कृत्य"[2] इत्यादि के रूप में विश्वेश शब्द से अद्वैत ब्रह्म शिव तत्त्व का उल्लेख किया है। इनका भी वृत्ति ग्रन्थ शारीरक भाष्य के समान ही है। 555 सम्पूर्ण सूत्रों में प्राप्त होता है। और प्रत्येक सूत्रों के व्याख्यान का स्वरूप लगभग शंकराचार्य से संग्रहीत सा प्रतीत होता है। इन्होंने शंकराचार्य से सूत्र के अर्थनिर्देश में

- -

1. तर्क संग्रह मङ्गलाचरण

2. ब्रह्मसूत्र मिताक्षरा वृत्ति मङ्गलाचरण

अर्थ के तात्पर्य का ही ग्रहण किया है। और शब्दावली सर्वत्र इनकी अपनी ही है। इन्होंने कहीं भी भाष्यकार के शब्दावली का अपने व्याख्यान में सहारा नहीं लिया। इनका भाष्य ग्रन्थ से मिलते जुलते व्याख्यान का एक उदाहरण इस प्रकार है-

"प्रथमसूत्रे ब्रह्ममीमांसाया: प्रतिज्ञातत्वात्, तस्याश्च लक्षणप्रमाणमन्वायाविरोधसाधनफलविषयतया अनेक विधत्वेऽपि, प्रथमं ब्रह्मण: प्राधान्यत्तल्लक्षणार्थं सूत्रं "जन्माद्यस्य यत: इति। वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।" (तै० 3-1) इत्येतद्वाक्यनिर्दिष्टानां जन्मस्थितिविलयानां जन्मादीति बहुव्रीहिणा निर्देश:। तत्र अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहौ, जन्मादी अस्येति निर्देश:। तद्गुणसंविज्ञानेऽपि उद्भूतावयवभेद समुदायस्यान्यपदार्थत्वे, जन्मादयोऽस्येति निर्देश:। अनुद्भूतावयवभेदसमुदायस्य अन्यपदार्थतवे , स्त्रीलिङ्गपुलिङ्गयो जन्मादिरस्येति निर्देशस्यात्। सर्वत्र वर्णान्तराधिक्ये गौरवं स्यादिति सूत्रकारेण नपुंसकलिङ्गनिर्देश: कृत:। जन्मस्थितिभङ्गं समासार्थ:। तद्गुणसंविज्ञानश्च बहुव्रीहि:। पूर्वसूत्राद्द्ब्रह्मपदमनुवर्तते।[1]

यह वृत्ति व्याख्यान "जन्माद्यस्य यत:" इस सूत्र के भाष्य ग्रन्थ के अनुसार ही हुआ है। केवल वृत्ति तथा भाष्य शैली के कारण ही दोनों का भेद प्राप्त होता है किन्तु शब्दों के विभिन्नता में ही तात्पर्य की भिन्नता कहीं नहीं प्रतीत होती। उदाहरणार्थ पूर्वोक्त सूत्र के शारीरक भाष्य का स्वरूप इस प्रकार है।

[2] "जन्मोत्पत्तिरादिरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहि:। जन्मस्थितिभङ्गं समासार्थं जन्मनश्चादित्व श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तुवृत्तापेक्षं च। श्रुतिनिर्देशस्तावत्-"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तैतिरीय 3/1) इत्यास्मिन्वाक्ये जन्मस्थितिप्रलयानां क्रमदर्शनात्। वस्तुवृत्तमपि जन्मना लब्धसत्ताकस्य धर्मिण: स्थितिप्रलयसंभवात्। अस्येति प्रत्यक्षादिसंनिधापितस्य धर्मिण

---

1. मिताक्षरा वृत्ति (ब्र०सू०भि०बृ०) 1.2
2. शारीरक भाष्य (1.1.2)

इदमा निर्देश:। षष्ठी जन्मादिधर्मसंबन्धार्था। यत इति कारण निर्देश:। अस्य जगतो नाम-रूपाभ्यां व्याकृतस्यनेककर्तृभोक्त संयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकाल निमित्त क्रियाफलाश्रयस्य मनसा-प्यचिन्तस्वनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्ग यत: सर्वज्ञात्सर्वशक्ते: कारणद्भवति, तद्ब्रह्मेति वाक्य-शेष:। अन्येषामपि भावविकाराणां त्रिष्वेवान्तर्भाव इति जन्मस्थितिनाशनाभिष्ट ग्रहणम्। यास्कपरिपठितानां तु "जायतेऽस्ति इत्यादीनां ग्रहणे तेषां जगत: स्थितिकाले संभाव्यमान-त्वान्मूलकारणादुत्पत्तिस्थितिनाशा जगतो न गृहीता: स्युरित्याशङ्क्येत, तन्मा शङ्कीति योत्पत्तिर्ब्रह्मणस्तत्रैव स्थिति: प्रलयश्च त एव गृह्यन्ते।

इसमें वृत्तिकार ने उन सभी सूत्र विषयक स्वरूपों का स्पर्श किया है जिनका प्रदर्शन भाष्यकार अपने भाष्य ग्रन्थ में किया है। ये बात अलग है कि भाष्य में पूर्णरूप से उल्लेखित कुछ अर्थों का ये संक्षेप में ही प्रदर्शन कर देते है जैसे भाष्य ग्रन्थ में जहाँ "जायते" अस्ति "विपरिणमते" इत्यादि यास्क के कथन पूरा विवरण प्रस्तुत करते है। वही "तेन अस्य प्रपञ्चस्य यत: शकासात् जन्मादि भवति" इस कथन से यास्क के पठित पूर्वोक्त सूत्र के स्वरूप को भी इङ्गित करते है किन्तु भाष्य ग्रन्थ के समान पूर्ण स्फुटित नहीं करते।

कुछ स्थल में ऐसा भी देखा गया है कि भाष्यकार उसका सामान्य विवेचन ही किया है किन्तु ये उसका पूरा विवरण प्रस्तुत करते देखे जाते है जैसे "जमोत्पत्तिरादि-रस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुब्रीहि:"[1] इस पूर्वोल्लिखित भाष्य ग्रन्थ में तद्गुणसमविज्ञान बहु-ब्रीहि का पूरा विवरण प्रस्तुत किया गया है जो पूर्वोक्त वृत्ति के उदाहरण में उल्लेखित है यहाँ पर वृत्तिकार तद्गुणसमविज्ञान बहुब्रीहि के पूरे स्वरूप को प्रदर्शित करके सूत्र के तात्पर्य को उस बहुब्रिहि समास के माध्यम से प्राप्त होते दिखलाया। कई स्थलों में यही स्थिति वृत्तिकार की देखी जाती है जहाँ पर ये भाष्य से प्राप्त स्वरूप का जहाँ आश्रयण करते

---

1. ब्रह्मसूत्र १।१।२।

है,वहीं भाष्य के अविशद स्वरूप को वृत्तिग्रन्थ में पूर्णतया प्रकाशित करने का प्रयास करते है। जैसे"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"[1] इस सूत्र के व्याख्यान में भाष्यकार ने "अथ शब्द का अनन्तर अर्थ किया और धर्म जिज्ञासा के अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा होती है इस कथन को स्पष्ट किया । वृत्तिकार "अथ योगानुशासनम्"[2] "अथ शब्दानुशासनम्", के समान अथ शब्द का अधिकार अर्थ क्यों नहीं होता। यहाँ पर भी "अथ" शब्द का अधिकार अर्थ होना चाहिए या अधिकार अर्थ अन्वित नहीं होता अनन्तर अर्थ ही अन्वित होता है। इसका विवेचन यद्यपि शारीरक भाष्य में नहीं है। किन्तु वृत्तिकार इसका कम से कम शब्दों में पूरा विवेचन करते हुए इस तरह प्रस्तुत किया-

[3]"ननु अथ शब्दानुशासनम्" "अथ योगानुशासनम्" इत्यत्रेव अथशब्दस्याधिकारार्थत्वमस्तु। न च ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वं, जिज्ञासाशब्देन विचारस्य लक्षितत्वाद्विचास्य प्रत्यधिकरणं वर्तिष्यमाणत्वेन अधिकृतत्वसम्भवात्, इति चेन्न। आनन्तर्याभिधानमुखेन विध्यपेक्षिताधिकारिविशेष समर्पकत्वेन सार्थकत्वे सम्भवति तदनपेक्षिताधिकारार्थत्वस्यायोगात् । "अथ शब्दानुशासनम्" इत्यादौ च अविधिमूलतया न विध्यपेक्षिताधिकार्यपेक्षेति नानन्तर्यपरत्वमिति। साधनचतुष्टयं च - नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थभोगः, विरागः, शमदमादिसंपत्ति, मुमुक्षत्वं च।

इस तरह के उदाहरण विशेष रूप से पूर्व के चारो सूत्रों में तो अवश्य ही प्राप्त होते है। अन्य सूत्रों में भी यथा विषय इनका विवेचन देखा जाता है।

---

1. योगसूत्र का प्रथम सूत्र
2. व्याकरण महाभाष्य का प्रथम भाष्य वार्तिक
3. ब्रह्मसूत्र मिताक्षरा वृत्ति । (1.1.1)

सूत्रों के मूल अर्थ का कथन इन्होंने लगभग शंकराचार्य के भाष्य के अनुसार ही किया है। कभी-कभी तो सूत्र के मूल तात्पर्य के कथन को देखकर यह प्रतीत होता है कि भाष्य के सूत्रार्थ तत्त्व का क्या संग्रह यह मिताक्षरा वृत्ति है। क्योंकि सभी सूत्रों का लगभग अर्थ प्रदर्शन भाष्य के समान ही दिखलाई पड़ता है। यद्यपि यह बात पूर्ण रूप से सभी सूत्रों में अवश्य देखी जाती है तथापि भाष्य ग्रन्थ का यह संक्षिप्त स्वरूप नहीं कहा जा सकता क्योंकि जैसा पूर्व में विवेचन किया गया है कि भाष्य में अनुक्त ब्रह्मसूत्र के अर्थ स्वरूपों का प्रकाशन ही इस ग्रन्थ में हुआ है इतना ही नहीं भाष्य के व्याख्यान स्वरूप का कहीं-कहीं विशद रूप भी प्राप्त होता है।

ब्रह्मसूत्रों के व्याख्यान के समय लगभग सभी व्याख्याकार चाहे वे वृत्तिकार हो या भाष्यकार सभी सूत्रार्थ को स्पष्ट करने के लिए और अपने कथन के पुष्टि के लिए श्रुति प्रमाणों को उपन्यस्त करते हैं। बहुत ही अल्प ऐसे सूत्र हैं जिन पर श्रुति वाक्यों का व्याख्यान में प्रयोग नहीं किया गया।

ब्रह्मसूत्रों का प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म, माया, जगत्, ज्ञान कराते हुए परम तत्त्व की प्राप्ति है। और यह विषय सबसे अधिक उपनिषदों में ही विवेचित हुआ है ब्रह्मसूत्रों के विषयों का विशद रूप में लगभग पुरा विवरण उपनिषदों में प्राप्त होता है। चाहे वे ब्रह्म-स्वरूप के व्याख्यान का विषय हो उसके लिए [1]सत्यं ज्ञानन्तं ब्रह्म, [2]यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, [3]आत्मा वा इदमेक एवाग्रासीत, [4]एकोमेवाद्वितीयं, [5]ब्रह्मेवेदऽमृतं पुरस्तात्, इत्यादि श्रुति वाक्य प्रमाण रूप में व्याख्याकारों के द्वारा उपस्थापित हुये हैं। इसी तरह माया तथा

---

1. तैत्तिरीय उपनिषद् ब्रह्मानन्दवली
2. तैत्तिरीय उपनिषद् ‖3·1·‖
3. ऐतरेय उपनिषद् ‖ 2·1·1·1·‖
4. छान्दोग्य उपनिषद् ‖ 6·2·1‖
5. मुण्डोकोपनिषद् ‖2·2·11·‖

जगत् के विचार में श्रुतिवाक्यों के द्वारा परिपुष्टि करके आत्मतत्त्व के बोध में "तत्त्वमसि" सदृश श्रुति वाक्य बहुत उधृत हुए है। श्रुति वाक्यों का उल्लेख ऐसा नहीं है कि सभी व्याख्याकार उन-उन सूत्रों में उन्हीं उन्हीं श्रुतिवाक्यों का उल्लेख किया हो उससे अतिरिक्त श्रुति वाक्यों का उल्लेख मिलता है।

अन्नंभट्ट भाष्य के मार्ग का ही प्राय: सर्वत्र अनुसरण किया है। श्रुति वाक्यों का प्रयोग भी उनका बहुत कुछ शारीरक भाष्य के समान ही हुआ है फिर भी उनके अलावा भी जो श्रुतिवाक्य कथन विशेष के परिपुष्टि में अपेक्षित है किन्तु उनका उल्लेख भाष्यग्रन्थ में नहीं है उनका भी प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ एतद्विषयक भाष्य ग्रन्थ एवं वृत्तिग्रन्थ इस प्रकार है-

[2] सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येतत्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि । "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्।" "एकमेवाद्वितीयम्" (छान्दो० 6/2/1) "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" (ऐत० 2/1/1/1) "तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्"। अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः (बृह० 2/5/19) "ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्" (मुण्ड० 2/2/11) इत्यादीनि। न च तद्गतानां पदानां ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वयेऽवयेऽवगम्यमतिऽर्थान्तरकल्पना युक्ता:, श्रुतहान्यश्रुतकल्पसप्रसङ्गात ।

" सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्"(छा०6·2·1) "आत्मा वा इदमेव एवाग्र आसीत्" (ऐत० 2-1-1-1) "तदेतद् ब्रह्मपूर्वमनपरपुरस्तात्"(मु०2·2·11) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० 2·1) "नेह नानास्ति किंचन " (बृ 4·4·19) "एको देव: सर्वभूतेषु

1· छान्दोग्य उपनिषद् (6·8·7)

2· ब्रह्मसूत्र शारीकभाष्य (1·1·4)

3· मिताक्षरा (1·1·4)

गूढ़ समन्वये अवगम्यमाने, सिद्धान्तस्यापि "तरति शोकमात्मवित" {छा०6·1·3} इत्यादि श्रुत्या अनर्थनिवृत्ति लक्षण प्रयोजने चावगम्यमाने, वृथा कार्य परत्वकल्पनानौचित्यात्।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि समान विषयक व्याख्यान में श्रुति वाक्यों का संयोजन कहीं अधिक तो कहीं न्यून हुआ है। यद्यपि भाष्य ग्रन्थ का एक विस्तृत स्वरूप है उसकी अपेक्षा वृत्ति ग्रन्थ की आकृति पर्याप्त लघु है तथापि वृत्तिकार भी श्रुति वाक्यों के प्रयोग में भाष्कार के प्रयोग की अपेक्षा कहीं अधिक प्रयोगकर्त्ता के रूप में दृष्टिगोचर होते है। वैसे प्राय: सभी स्थलों में कोई ऐसी नयी बात नहीं लिखी मिलती जो भाष्यग्रन्थ में कहीं भी तात्पर्यत: भी प्राप्त न होती है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वृत्तिकार अन्नं भट्ट शारीरिक भाष्य का अनुसरण कर ही वृत्ति के अलौकि स्वरूप का प्रणयन किया है। और उसे भाष्यग्रन्थ के अध्ययन के पूर्व पाठ के रूप में स्थापित किया। अर्थात् यदि शारीरिक भाष्य के पहले मिताक्षरा वृत्ति का अध्ययन किया जाय तो उसका अध्ययन और भी सुगम हो सकता है।

- 5 -

मिताक्षरा वृत्ति ग्रन्थ एवं शारीरक भाष्यग्रन्थ के प्रतिपादन का स्वरूप

मिताक्षरा वृत्ति व्याख्यान ब्रह्मसूत्रों पर अपने पूर्ण वृत्ति के स्वरूप को लेकर ही हुआ है। वृत्ति के लक्षण में जिन स्वरूपों का कथन है उन सभी का इस ग्रन्थ में समन्वय प्राप्त होता है जैसे पदों में सन्धि विच्छेद, पदार्थों का पूर्ण विवेचन, समास वाक्यों का विग्रह प्रदर्शन, सम्बन्धित विषय के परिपुष्टि में उचित वाक्य संयोजन, विषय से सम्बन्धित आक्षेपों का कथन और उनका समाधान। ये सभी तत्त्व इस मिताक्षरा वृत्ति के स्वरूप में उपलब्ध होते है।

यद्यपि वृत्ति ग्रन्थ में उतना ही आक्षेप एवं समाधान उचित है जितना उसके लिए अपेक्षित है। तथापि कभी-कभी विषय को स्पष्ट करने के लिए वृत्तिकार को भी विशद व्याख्यान का आलम्बन लेना पड़ता है। अन्नं भट्ट भी सभी सूत्रों का समान ही व्याख्यान करते है। प्रत्येक विषय को अपने प्रतिज्ञा अनुसार अल्प से अल्प शब्दों में कहना उचित समझते है। अन्नं भट्ट भी प्रथम सूत्र के व्याख्यान में विषय को पूर्ण रूप से स्पष्ट करने के लिए तथा सूत्रार्थ से सम्बन्धित पूर्वापरिभाव के विवेचन के लिए विशद व्याख्यान का आश्रयण लेते है। और उसमें वृत्ति के लक्षण का स्वरूप कुछ शिथिल सा प्रतीत होता है। किन्तु उस सूत्र के व्याख्यान में उतना कहना आवश्यक है, क्योंकि उसका पूरा विवेचन किये बिना सूत्रार्थ या उसका तात्पर्य पूर्णरूप में प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतः "फलमुखगौरवस्य अदोषत्वात्" इस कहावत के आधार पर अन्नं भट्ट का विवेचन विशद होने पर भी अग्राह्य नहीं है।

शारीरक भाष्य के विवेचन में या उसके प्रतिपादन शैली के विषय में कुछ लिखना या कहना यद्यपि उचित नहीं है। क्योंकि वह अपने में एक पूर्ण स्वरूप से युक्त ग्रन्थ विशेष है। फिर भी स्वरूप विवेचन कहीं भी दोषकर नहीं होता है। अतः भाष्य के प्रतिपादन शैली पर प्रकाश डालना अनुचित नहीं होगा। जैसा कि पूर्व में भाष्य का लक्षण किया गया था कि-

[1] सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैस्सूत्रानुसारिभिः ।

स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ।।

ब्रह्मसूत्रों के इस शारीरक भाष्य में भाष्य का यह लक्षण पूर्णरूपेण घटित होता है। सबसे पहले सूत्रकार सूत्रों के अर्थों को ही स्पष्ट करते हैं। उदाहरणार्थ आदि के तीन सूत्रों का अर्थ निर्देश शारीरक भाष्य का इस प्रकार है-

[2] "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा"।

[3] "तत्र अथ शब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते, नाधिकारार्थः, ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात्। मङ्गलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात् अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवति। पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलत आनन्तर्याव्यतिरेकात्। सति चानन्तर्यार्थत्वे यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाध्ययनं नियमेवापेक्षते, एवं ब्रह्मजिज्ञासापि यत्पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते, तद्वक्तव्यम्। स्वाध्यायाध्ययनानन्तर्यो तु समानम्।"

[4] जन्माद्यस्य यतः ।

[5] जन्मोत्पत्तिरादिरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। जन्मस्थितिभङ्ग समासार्थः जन्म-नाशयादित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तुवृत्तापेक्षं च ।

- -

1. (प०उ०पु० (18/15)

2. ब्रह्मसूत्र (1.1.1)

3. शारीरक भाष्य (1.1.1)

4. ब्रह्मसूत्र (1.1.2)

5. शारीरक भाष्य (1.1.1)

[1] शास्त्रयोनित्वात् ।

[2] "महत ऋग्वेदादे: शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थविद्योतिन: सर्वज्ञकल्पस्य योनि: कारण ब्रह्म। नहीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादि दिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वतस्य सर्वज्ञादन्य: संभवोऽस्ति।"

इन तीनों सूत्रों में सर्वप्रथम सूत्र के सामान्य अर्थों का ही कथन है और उन अर्थों का स्पष्टीकरण सूत्रार्थ के अनन्तर भाष्यकार ने किया है। इसके लिए [3] श्रुति वाक्यों का प्रयोग जहाँ भाष्यकार के द्वारा हुआ वहीं [4] जैमिनीय सूत्रों का प्रकरण विशेष के अनुसार भी प्रयोग सूत्रकार के द्वारा हुआ है। श्रुति वाक्यों तथा जैमिनीय सूत्रों के अतिरिक्त भी अपने मत के पुष्टि के लिए [5] गीता के कई श्लोकों का उद्धरण भाष्यकार के द्वारा प्रस्तुत हुए है। कहीं कहीं पर अन्य दर्शनों के भी यथाविषय उद्धरण देखे जाते है जिनमें [6] न्यायशास्त्र, वैशेषिकशास्त्र तथा मीमांसाशास्त्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है। श्रुति वाक्यों जिन संहिता ग्रन्थों ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषद् ग्रन्थों के उदाहरण शारीरक भाष्य में उपस्थित हुए है संक्षेप में उनका विवरण इस प्रकार है-

---

1. ब्रह्मसूत्र 1.1.3
2. मिताक्षरावृत्ति 1.1.3
3. (1) "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य:" (बृह0 2/4/5)
   (2) "ब्रह्म वेद ब्रह्मैवभवति" (मुण्ड0 2/2/9)
   (3) अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्
   महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।" (काठ0 1/2)
4. (1) "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम" (जै0 सू0 1)
   (2) "विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनांस्यु:" (जै0सू0)
   (3) "दृष्टो हि तस्यार्थ कर्मावबोधनम्" (जै0सू0 1/1/1)
   (4) " अथातो धर्म जिज्ञासा" (जै0 सू0 1/1/1)
   इस तरह कई श्रुति वाक्यों का प्रयोग सभी सूत्रों में सामान्यता हुआ है।
5. (1) "यं यं वापिस्मरन्भाव त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
   तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित: ।।" (गीता 8/6)

संहिता ग्रन्थ

ऋक् संहिता	1/1/65/32
ऋक् संहिता	10/71/3
ऋक् संहिता	9/46/4
ऋक् संहिता	8/53/7
ऋक् संहिता	विश्वरमा अग्यं भुवनाथ देवा वैश्वानर केतुमह्लाभकृण्णन्।" §10-88-12§
ऋक् संहिता	10/88/5 -"यो भावुनापृथ्वी धामुतेमागातनां रोदसी अन्तरिक्षम्"।
ऋक् संहिता	8/7/17
यजु संहिता	"अग्निषोमीयं पशुमालभेत" ।

ब्राह्मण

ऐतरेय ब्राह्मण	"तस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां मनसा ध्यायेद्वषट् करिष्यन्, "संधृया मनसा ध्यायेत्"। §3·8 ·1§
1· तैत्तिरीय ब्राह्मण -	"येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" §3·12·9·7§
2· शतपथ ब्राह्मण	"यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वाग्प्येति"।§10·3·3·
3· वाजसनेयि ब्राह्मण	"तदात्मावमेवा" ।§1·4·10§
4· षड्विंश ब्राह्मण	"मेधातिथिं ह काण्वायनमिन्द्रो मेषो भूत्वा जहार"। §1·3·3§
5· ताण्ड्य ब्राह्मण	"एतेन वै चित्ररथं कापेया अयाजयन्"§ 1·3·35§

आरण्यक-

1· ऐतरेयआरण्यक	"अहमुक्थमस्मीति विद्यात्।§2·1·2·6§
2· तैत्तिरीय आरण्यक	"सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभि- वदन्य दास्ते।" §3·12·7§

उपनिषद्- उपनिषदों का वर्णन ब्रह्म सूत्र शारीरक भाष्य में लगभग सभी सूत्रों के व्याख्या में किया गया है।

1• छान्दोग्य "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत:"{8•12•1}

2• वृहदारण्याकोपनिषद् 1•"अस्य महतो भूतस्य नि:श्वसितमेत यदृग्वेद:"। {2.4.10}

2•"तत्केन कं पश्येत"। {2.4.13}

3•तैत्तिरीयोपनिषद् "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातनि जीवन्ति"।{3•1}

4•ऐतरीयोपनिषद् "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" {1•1•}

5•मुण्डोकोपनिषद् "अप्राणो ह्यमाना शुभ्र:"{2•1•2}

6•कठोपनिषद् 1• "अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च"{2•1•4}

2• "न जायते म्रियते वा विपश्चित्"{14•8}

7•जाबालोपनिषद् "य एषोऽवन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठत इति""

8•श्वेताश्वरउपनिषद् "स कारण कारणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिप:।" {6•9}

9•गीता "सर्वत: पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वता श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।"{1•13•13}

10•मनुस्मृति " अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्व:"।{1•5•}

11•परासरसूत्र " तत्प्रकृतवचने मयट् " {3•4•21}

12•जैमिनी सूत्र "क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानम्"। {1•2•1}

उपनिषद्-

प्रश्न "त्वं हि न पिता"।{6•8}

केन "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि"।{3•2•17}

ईशा "त न्न को मोह: क: शोक: एकत्वमनुपश्यत:"।{7}

इस तरह शारीरकभाष्य के विवेचन में भाष्य का पूर्णरूप सुरक्षित उपलब्ध होता है। यद्यपि "स्वपदानि-च वर्ण्यन्ते" इस भाष्य -लक्षण घटक पद समूह का उद्देश्य इस भाष्य ग्रन्थ में बहुत ही न्यून है। और वो भी एक सामान्य रूप में ही है जो भाष्यकार अपने अस्पष्ट कथन को और अधिक स्पष्ट करने के लिए उसका व्याख्यान करते है। ऐसा कोई स्वरूप हमें उपलब्ध नहीं होता जिसमें अपने कथन को सिद्धान्त वार्तिक के रूप में कहकर उसका व्याख्यान भाष्यकार ने किया हो जिससे भाष्य लक्षण का यह अंश इस ग्रन्थ विशेष में अघटित सा प्रतीत होता है तथापि अपने सामान्य कथित वर्णों का पूर्णविस्तार रूप वर्णन भी पूर्वोक्त वाक्य का उद्देश्य मानने पर लक्षण को पूर्ण घटित मानना ही युक्ति संगत है। क्योंकि "स्व-पदानि च वर्ण्यन्ते" इस कथन से यह नहीं प्रतीतहोता कि सिद्धान्त वार्तिक आदि के रूप में कहकर ही उसका विवरण प्रस्तुत किया जाय।

इस प्रकार भाष्य ग्रन्थ का विवेचन का स्वरूप भाष्य के लक्षण से पूर्व घटित है। इस-लिए यह भाष्य ग्रन्थ मूलग्रन्थ का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करने के कारण सभी भाष्य ग्रन्थों में श्रेष्ठ माना जाता है।

शारीरक भाष्य की भाषा विषय के अनुसार अपने स्वरूप में मोड़ लेती है अर्थात् यदि, विषय कठिन है तो भाषा में प्रौढ़ता दृष्टिगोचर होती है किन्तु सामान्य विषय अपेक्षाकृत सरल भाषा में ही प्रस्तुत हुआ है। भावों को एक सुसंस्कृत बोधगम्य भाषा के द्वारा सूत्रों के तात्पर्य को प्राप्त कराने में शारीरक भाष्य पूर्णतया सफल हुआ है। इसीलिए इसके स्वरूप को पूर्णतया प्रसन्न गम्भीर कहा जाता है। क्योंकि भाषा के बोधगम्य होने पर ही भाव पूर्णरूप से परिश्रम करने पर ही प्राप्त हो सकते है। सहज तथा भाव बोध सम्भव नहीं है।

"मिताक्षरा वृत्ति एवं शारीरक भाष्य ग्रन्थ की तुलना"

मिताक्षरा वृत्ति तथा शारीरक भाष्य दोनों व्याख्यानग्रन्थ ब्रह्मसूत्रों पर ही है। और दोनों का व्याख्यान 555 सूत्रों तथा सूत्रों के अन्तर्गत विद्यमान 191 अधिकरणों पर हुआ है। दोनों की भाषा अपेक्षाकृत जिज्ञासुओं को बोध कराने के लिए सुगम है। क्योंकि विषय को तोड़कर न प्रस्तुत करके सीधे ही प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक जिज्ञासु अध्येता इन दोनों ग्रन्थों के अध्ययन करने पर ग्रन्थ के तात्पर्य से पूर्ण रूपेण परिचित हो जाता है। एतदर्थ उसे किसी अतिरिक्त ग्रन्थ के साहाय्यता की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि सूत्रार्थ के विवेचन में दोनों में समान रूपता देखी जाती है। सूत्रार्थ के स्वरूप का विवेचन का प्रकार जैसा भाष्य ग्रन्थ में है लगभग उसी तरह का वृत्ति ग्रन्थ में भी प्राप्त होता है। कुछ पदों एवं वाक्यों के भिन्न होने पर भी तात्पर्य में असमानता नहीं है। इस रूप में दोनों ग्रन्थों का एक लघु उदाहरण इस प्रकार है-

1. । "सर्वोपेता च तद्दर्शनात्"।[1]

2. एकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगादुपपद्यते विचित्रो विकारप्रपञ्च इत्युक्तम्।[2] तत्पुन: कथमवगम्यते-विचित्र शक्तियुक्तं परं ब्रह्मेति ? तदुच्यते-सर्वोपेता च तद्दर्शनात् । सर्व-शक्तियुक्ता च परा देवतेत्यभ्युपगन्तव्यम्। कुत: ? तद्दर्शनात् । तथा हि दर्शयति श्रुति: सर्व शक्तियोगं परस्या देवताया: -

"सर्वकर्मा सर्वकाम: सर्वगन्ध: सर्वरस: सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर:" {छा03/14/4} सत्यकाम: सत्य संकल्प: {छा-8/7/1} । "य: सर्वज्ञ: सर्ववित्" {मुण्ड01/1/9} "इत्येवंजातीयका।

---

1. ब्रह्मसूत्र 2.1.30

2. शारीरक भाष्य -2.1.30

[1] विचित्रशक्तियोगाद्विचित्रकार्योत्पत्तिरित्युक्तं, तदनेन उच्यते। सर्वोपेता, सर्वशक्ति-युक्ता परा देवता। कुत: एतद्दर्शनात्। "सर्वकर्मा सर्वकाम: सर्वगन्ध: सर्वरस:" छा-3-14-4 इत्यादिश्रुतिषु सर्वशक्तियोगदर्शनादित्यर्थ:।

अपने विवेचन के प्रमाण में श्रुति वाक्यों का प्रयोग भाष्यकार एवं वृत्तिकार दोनों यथेष्ट रूप से करते है। प्राय: श्रुतियाँ दोनों को समान रूप में ही प्राप्त होती है। जिन ग्रन्थों से उद्धरण इन दोनों ग्रन्थों में विशेष रूप से उल्लेखित हुये हैं, उन ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है-

श्रुतियों का नाम	श्रुति वाक्य	दोनों ग्रन्थ के सूत्रसंख्या
ॠक संहिता	[2] "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वम कल्पयत।"	1·3·30
ॠक संहिता	"विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्-नामकृण्वन्"	1·2·24
ॠक् संहिता	"वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्री:"	1·2·24
ॠक संहिता	"आनीदवातं स्वधया तदेकम्"	2·4·8
ब्राह्मण		
शतपथ ब्राह्मण	[3] "सएषोऽग्नि वैश्वानरो यत्पुरुष स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषं पुरुषेऽन्त: प्रतिष्ठितं वेद"	1·2·26
शतपथ ब्राह्मण	" तं होपनिन्ये"	1·3·36

1. मिताक्षरा (2/1/30)
2. ॠक्संहिता (10·190·3), (10·88·12), (1·98·1), (8·7·17)
3. शतपथ ब्राह्मण - (10·6·1·11), (11·5·3·13)

2• तैत्तिरीय ब्राह्मण[1] -"नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्" 2•1•3

3• षडविंश ब्राह्मण[2] -"मेधातिथिं ह काण्वायनमिन्द्रो मेषो भूत्वाजहार 1•3•33

4• कौषीतकि ब्राह्मण[3] -"यथाऽग्नेर्ज्वलत: सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैत-
दात्मन: सर्वे प्राणा यथाय तनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोका:" 1•1•10

"प्रतर्दनो ह वै देवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजागाम युद्धेन च पौरुषेण च" 1•1•2

आरण्यक-

1• ऐतरीय आरण्यक[4]- "एत हवे बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एवमग्नावध्वर्यव एवं महाव्रते छन्दोगा:" 1•1•25

"अग्निर्वाग्भूत्वा भुखं प्राविशत" 2•4•14

उपनिषद्ग्रन्थ-

1• छान्दोग्य[5] -"तत्वमसि"

"सदेव सोम्येदमग्रआसीत्। एकमेवाद्वितीयम्" 1•1•1

2• बृहदारण्यक[6] "श्रोतव्यो मन्तव्यो: निदिध्यासितव्य:" 1•1•2

"नेह नानास्ति किन्चन " 1•1•4

3• तैत्तिरीय[7] "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" 1•1•2

"एष ह्येवानन्दयाति" 1•1•14

4• मुण्डकोपनिषद्[8]- "यस्मिन् द्यौ: पृथिवी चान्तरिक्षमोतम् मन: सह प्राणैश्चसर्वै: । तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुन्चथामृतस्यैष सेतु: ।। 1•3•1

1• तैत्तिरीय ब्राह्मण - ‖3•12•9•7‖
2• षड्विंश ब्राह्मण - ‖1•1‖
3• कौषीतकि ब्राह्मण- 3•3, 3•1
4• ऐतरेयी आरण्यक ‖3•2•3•12‖, ‖2•4‖
5• छान्दोग्य उपनिषद्‖6•8•7‖,‖6•2•1‖
6• बृहदारण्यक उपनिषद्‖2•4•5‖,‖4•4•19‖
7• तैत्तिरीय उपनिषद् ‖2•1‖,2•7‖
8• मुण्डकोपनिषद् ‖2•2•5‖,‖2•2•8‖

5• ऐतरीयोपनिषद् –[1]"आत्मा वा इदमेव एवाग्र आसीत" 1•1•4

6• माण्डूक्य–

7• श्वेताश्वरउपनिषद्–[2]", निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" 2•1•26

न तस्य कार्यं कारणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च" 2•1•24

8• प्रश्नोपनिषद् [3]"स प्राणम सृजत" 1•1•5

9• कठोपनिषद् [4]"ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमेपरार्धे।" 1•2•11

10• केनोपनिषद् [5]"अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि" 3•2•17

11• जाबालोपनिषद् – [6]" वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति ।

का वै वरणा का च नासीति ।। 1•2•32

मनुस्मृति– [7]"न शूद्रे पातकं किंचिन्न च संस्कारमर्हति ।" 1•3•36

"नामरूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम् ।

वेद शब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः।।" 1•3•28

भगवत गीता– [8]"ज्ञेय यतत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ।।" 3•2•17

जैमिनीसूत्र [9]"श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थ विप्रकर्षात" । 3•3•44

पाराशर सूत्र [10]"तत्प्रकृत वचने मयट्" 1•1•13

1• ऐतरीयोपनिषद् {2•1•1•1}
2• श्वेताश्वरउपनिषद् {6•19},{6•8}
3• प्रश्नोपनिषद् {6•3}
4• कठोपनिषद् {1•2•11}
5• केन उपनिषद् {1•3•}
6• जाबालोपनिषद् {1}
7• मनुस्मृति {10•12•6}
8• भगवतगीता {13•12}

मिताक्षरावृत्ति एवं शारीरक भाष्य ग्रन्थ की समीक्षा

शारीरक भाष्य और मिताक्षरा वृत्ति का विवेचन ब्रह्मसूत्रों पर यद्यपि समान रूप में ही है। क्योंकि एक विषय का एक ही मनोवृत्ति वाले मनीषियों का व्याख्यान भिन्न नहीं हो सकता है। तथापि वृत्ति ग्रन्थ का व्याख्यान स्वरूप जहाँ सूत्रार्थ स्वरूप विवेचन और सामान्य स्पष्टीकरण तक ही सीमित है जिसमें आदि के चारों सूत्रों को छोड़ करके अन्य सूत्रों में आगत समस्त आक्षेपों का और समाधानों का विवरण प्रस्तुत नहीं किया गया है वहीं शारीरक भाष्य में सूत्रार्थ स्वरूप के साथ-साथ उस प्रत्येक विषय का विवेचन इतने सुन्दर ढंग से किया गया है कि कोई भी अभिप्रेत विषय अवशिष्ट नहीं प्रतीत होता। भाष्य ग्रन्थ में श्रुतियों का विरण देते समय अपने मत के पुष्टि के लिए ही उनका उल्लेख नहीं होता।उनके विषय में पुरा एक तर्क को देकर के ही उनको प्रस्तुत करते है।उदाहरणार्थ भाष्यग्रन्थ का यह अंश इस प्रकार है-

[1] "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य:" (बृह0 2/4/5) इति। "य आत्माऽपहतपात्मा सोऽन्वेष्टव्य: स विजिज्ञासितव्य:" (छान्दो0 8/6/9) "आत्मेत्येवोपासीत (बृ0 1/4/7) आत्मानमेव लोकमुपासीत" (बृ0 1/4/15) "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मुण्ड0 2/2/9) इत्यादि विधानेषु सत्सु -"कोऽसावात्मा, किं तद्ब्रह्म ?" इत्याकाङ्क्षायां तत्स्वरूप समर्पणेन सर्वे वेदान्ता उपयुक्ता: -" नित्य: सर्वज्ञ: सर्वगतो नित्यतृप्तो नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभावो विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्येवमादय:। तदुपासनाच्च शास्त्रदृष्टोऽदृष्टो मोक्ष: फलं भविष्यति।"

---

1. शारीरक भाष्य (1.1.4.4)

इसी तरह अन्य दार्शनिक तत्त्वों के विवेचन में जिन दार्शनिकों के मत का उल्लेख करते हैं उनके सूत्रों को प्रस्तुत करते हुए सूत्रों का तार्किक विवरण भी प्रस्तुत करते है। इस परिप्रेक्ष्य में पूर्वमीमांसा से सम्बन्धित विषय के विवेचन में जैमीनीय सूत्रों का सविवरण उल्लेख उदाहरणार्थ शारीरक भाष्य का इस प्रकार है-

"अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते- यद्यपि शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्म, तथापि प्रतिपत्ति विधिविषयतयैव शास्त्रेण ब्रह्म समर्प्यते। यथा यूपाहवनीयादीन्यलौकिकान्यपि विधिशेषतया शास्त्रेण समर्प्यन्ते, तद्वत। कुत एतत ? प्रवृत्तिनिवृत्ति प्रयोजनत्वाच्छास्त्रस्य। तथा हि- शास्त्रतात्पर्यविद आहु: -"दृष्टो हि तस्यार्थ: कर्मावबोधनम्"-{जै0सू0 1·1·1·} इति। चोदनीति क्रियाया प्रवर्तक: वचनम्"। तस्य ज्ञानमुपदेश - जै0सू0 1/1/4} तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नाय: -" {जै0 सू0 1/1/25} "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्-"{जै0सू01/2/1} इति च । अत: पुरुषं क्वचिद्विषयविशेषे प्रवर्तयत्कुतश्चिद्विषय विशेषान्निवर्तयच्चार्थवच्छास्त्रम् । तच्छेषतया चान्यदुपयुक्तम्।"[1]

वृत्ति ग्रन्थ में भी यद्यपि जहाँ श्रुति वाक्यों का उल्लेख अन्नंभट्ट करते है वहाँ पर उसका पूर्वापरि अन्य तार्किक स्वरूप न दिखलाकर प्रमाण रूप में ही उसका उल्लेख करते हैं। एतद् विषयक मिताक्षरा वृत्ति का उदाहरण इस प्रकार है-

[2]"शास्त्रं वेदो योनि: प्रमाणं यस्य तत्त्वादित्यर्थ:। "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि {बृ03-9-26} इति श्रुत्या समर्थाधिकारविहिततद्धितेन उपनिषद्स्वेवावगत इति प्रतीते:, "नावेदविन्मनुते तै बृहन्तम्" इति श्रुत्या स्पष्टं मानान्तरनिषेधाच्च, ब्रह्मण उपनिषन्मात्रवेद्यत्वप्रतीते:।"

1· शारीरक भाष्य {1·1·4·4} पृ0 53

2· मिताक्षरा वृत्ति- {1·1·3}

यद्यपि सर्वत्र ऐसी स्थिति नहीं है कहीं पर अन्नं भट्ट भी श्रुतियों का तार्किक विवरण प्रस्तुत करना चाहते है किन्तु वह स्वरूप उनका श्रुति विषयक तात्पर्य ग्रहण के रूप में भी पाठक के समक्ष उपस्थित होता है। उदाहरणार्थमिताक्षरावृत्ति का वह अंश द्रष्टव्य है-

1 "सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्" ‖छा0 6-2-1‖ "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" ‖ऐत0 2-1-1-1‖ "तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यं अयमात्मा ब्रह्म" ‖बृ0 2-5-19‖, "ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्" ‖मु02-2-11‖ "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" ‖तै02-1‖ "नेह नानास्ति किंचन" ‖बृ04-4-19‖ "एको देव: सर्वभूतेषु गूढ: सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा" ‖श्वे0 6-11‖ इत्यादिषु तात्पर्यत: सिद्धब्रह्मप्रतिपादनपरे समन्वये अवगम्यमाने, सिद्धानन्यापि "तरति शोकमात्मवित्" ‖छा0 6-1-3‖ इत्यादिश्रुत्या अनर्थनिवृत्ति लक्षण प्रयोजने चावगम्यमाने, वृथा कार्यपरत्वकल्पनानौचित्यात्।

विशेष विवरण के परिप्रेक्ष्य में भाष्यकार कुछ सूत्रों को छोड़कर अधिकांश सूत्रों पर इनका भाष्यग्रन्थ पूर्णरूपेण प्राप्त होता है। ठीक इसका विपरीत स्वरूप मिताक्षरां वृत्ति में है। क्योंकि कुछ सूत्रों को छोड़कर अधिकांश सूत्रों पर सामान्य विवरण ही प्राप्त होता है।

शारीरक भाष्य में जिन सूत्रों का न्यून स्वरूप है उनका विवरण निम्नवत है।

क्र0सं0	प्रथमपाद सूत्र संख्या	सूत्र
1•	11	"श्रुतत्वाच्च"।
2•	13	"विकारशब्दान्नेतिचेन्न प्राचुर्यात्"।
3•	14	"तद्धेतुव्यपदेशाच्च"।

1• मिताक्षरावृत्ति ‖1-1-4‖

4. 16 "नेतरोऽनुपपत्तेः"।

5. 18 "कामाच्च नानुमानापेक्षा"।

6. 21 "भेदव्यपदेशाच्चान्यः"।

<u>द्वितीयपाद</u>

7. 4 "कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च।"

8. 5 "शब्दविशेषात्"

9. 27 "अत एव न देवता भूतं च"।

10. 29 "अभिव्यक्तिरित्याश्मरथ्यः"।

<u>तृतीयपाद</u>

11. 3 "नानुमानमतच्छब्दात्"।

12. 5 "भेदव्यपदेशात्"।

13. 4 "प्राणभृच्च"।

14. 6 "प्रकरणात्" ।

15. 11 "सा च प्रशासनात्"।

16. 17 "प्रसिद्धेश्च"।

17. 21 "अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम्"।

18. 23 "अपि च स्मर्यते"।

19. 29 "अत एवं च नित्यत्वम्"।

20. 36 "संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च"।

21. 37 "तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः"।

चतुर्थपाद

22•	7	"महद्वच्च" ।
23•	24	"अभिध्योपदेशाच्च"।
24•	25	"साक्षाच्चोभयाम्नानात्"।

द्वितीय अध्याय

प्रथमपाद

25•	2	"इतरेषां चानुपलब्धे"।
26•	19	"पटवच्च"।
27•	20	"यथा च प्राणादि:"।
28•	28	"आत्मनि चैव विचित्राश्च हि"।
29•	30	सर्वोपेता च तद्दर्शनात्"।

द्वितीयपाद

30•	14	"नित्यमेव च भावात्"
31•	23	"उभयथा च दोषात्"।
32•	36	"अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेष:"।
33•	39	"अधिष्ठानानुपपत्तेश्च"।
34•	43	" न च कर्तु: करणम्"।
35•	45	"विप्रतिषेधाच्च"।
37•	11	"आप:"
38•	23	"अविरोधश्चन्दनवत्"।

39.	27	"तथा च दर्शयति"
40.	28	"पृथगुपदेशात्"।
41.	33	"कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्"।
42.	34	"विहारोपदेशात्"।
43.	35	"उपादानात्"।
44.	39	"समाध्यभावाच्च"।
45.	44	"मन्त्रवर्णाच्च"।
46.	49	"असंततेश्चाव्यतिकरः"।
47.	52	" अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम्"।

चतुर्थपाद

48.	18	"भेदश्रुतेः"।
49.	22	"वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः"।

तृतीय अध्याय

प्रथमपाद

50.	3	"प्राणगतेश्च"।
51.	11	"सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः"।
52.	14	"स्मरन्ति च"।
53.	15	"अपि च सप्त"।
54.	16	"तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः"।
55.	19	"स्मर्यतेऽपि च लोके"।

56•	20	"दर्शनाच्च"।
57•	21	"तृतीयशब्दावरोध: संशौकजस्य"।
58•	26	"रेत: सिग्योगोऽथ"।
59•	27	"योने: शरीरम्"।
	द्वितीयपाद	
60	8	"अत: प्रबोधोऽस्मात्"।
61•	13	"अपि चैवमेके"।
62•	16	"आह च तन्मात्रम्"।
63•	18	"अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्"।
64•	19	"अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्"।
65•	23	"तदव्यक्तमाह हि"।
66•	25	"प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्"।
67•	26	"अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम्"।
68•	28	"प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्"।
69•	30	"प्रतिषेधाच्च"।
70•	35	"उपपत्तेश्च"।
71•	39	"श्रुतत्वाच्च"।
	तृतीयपाद	
73•	13	"इतरे त्वर्थसामान्यात्"
74•	28	"छन्दत उभयाविरोधात्"।
75•	47	"विद्यैव तु निर्धारणात्"।

76.	48	"दर्शनाच्च"।
77.	61	"अङ्गेषु यथाश्रयभावः"।
78.	62	"शिष्टेश्च"।
79.	63	"समाहारात्"।
80.	64	"गुणसाधारण्यश्रुतेश्च"।
81.	66	"दर्शनाच्च"।

चतुर्थपाद

82.	3	"आचारदर्शनात्"
83.	4	"तच्छ्रुतेः"।
84.	5	"समन्वारम्भणात्"।
85.	6	"तद्वतो विधानात्"।
86.	7	"नियमाच्च"।
87.	10.	"असार्वत्रिकी"।
88.	12	"अध्ययनमात्रवतः"।
89.	13	"नाविशेषात्"।
90.	14	"स्तुतयेऽनुमतिर्वा"।
91.	15	"कामकारेण चैके"।
92.	16	"उपमर्दं च"।
93.	26	"अपि च स्मर्यते"।
94.	25	"अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा"।
95.	31	"शब्दश्चातोऽकामकारे"।

96.	35	"अनभिभवं न दर्शयति"।
97.	37	"अपि च स्मर्यते"।
98.	39	"अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च"।
99.	43	"बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च"।
100.	46	"श्रुतेश्च"।
101.	48	"कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहार:"
102.	49	"मौनवदितरेषामप्युपदेशात्"।

चतुर्थ अध्याय

प्रथमपाद

103.	8	"ध्यानाच्च"।
104.	9	"अचलत्वं चापेक्ष्य"।
105.	10	"स्मरन्ति च"।

द्वितीयपाद

106.	2	"अत एव च सर्वाण्यनु"।
107.	10	"नोपमर्देनात:"
108.	11	"अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा"।
109.	16	"अविभागो वचनात्"।

तृतीयपाद:

110.	6	"वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुते:"।
111.	7	"कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्ते:"।
112.	10.	"कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहात: परमभिधानात्"।

113.	11	"स्मृतेश्च"।
114.	12	परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्"।
115.	13	"दर्शनाच्च"।
	चतुर्थपाद:	
116.	7	"एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं वादरायण:"।
117.	9	"अत एव चानन्याधिपति:"।
118.	10	"अभावं बादरिराह ह्येवम्"।
119.	11	"भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्"।
120.	12	"द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽत:"।
121.	13	"तन्वभावे संध्यवदुपपत्ते:"।
122.	14	"भावे जाग्रद्वत्"।
123.	20	"दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने"
124.	21	"भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च"।
125.	22	"अनावृत्ति: शब्दादनावृत्ति: शब्दात्"।

मिताक्षरा वृत्ति में सभी सूत्रों का स्वरूप न्यून है कुछ सूत्रों की व्याख्या वृहत रूप में जो इस प्रकार है।

1. "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" {1.1.1.}
2. "जन्माद्यस्य यत:" {1.1.2.}
3. "शास्त्रयोनित्वात्"{1.1.3}
4. "तत्तु समन्वयात्" {1.1.4}
5. "जीवमुख्य प्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्{1.1.31}
6. "भावं तु बादरायणोऽस्तिहि" {1.3.33}

शारीरक भाष्य एवं मिताक्षरा वृत्ति ये दोनों ग्रन्थों के प्रणयन का उद्देश्य भिन्न होने के कारण, भाषा स्वरूप में भी पर्याप्त भिन्नता है। क्योंकि भाष्य ग्रन्थ प्रणयन का उद्देश्य सरल, गम्भीर भावपूर्ण, तर्कपूर्ण, तात्विक विवेचन के लिए उपयुक्त भाषा के द्वारा ब्रह्म सूत्रों के पूर्ण स्वरूप का प्राकट्य था। और उस उद्देश्य की सिद्धि में आचार्य शंकर पूर्णतया सफल हुए है। उन्हों ने सूत्रों के गूढ़ातिगूढ़ तात्पर्य को भी अपनी भाषा में इस तरह से कहना चाहा है कि तत्वनुभुत्सु व्यक्ति अपनी ज्ञानपिपासा को पूर्णरूप से शान्त कर सके। इसी लिए सभी दार्शनिक शंकराचार्य के शारीरक भाष्य से प्रभावित रहे और उनके प्रबलतर्को के सामने नतमस्तक भी हुये। जैन एवं बौद्ध जैसे प्रचण्ड अनीश्वरवादी अवैदिक दार्शनिक भी शंकराचार्य के सिद्धान्तों से अवरुद्ध गति वाले होते हुए उन्नति की इच्छा को त्याग के लिए बाध्य हुए। शंकराचार्य बौद्धादि मतों का निवारण करने के लिए ही विशुद्ध वैदिक दार्शनिक तत्त्व की स्थापना की। इसीलिए शंकराचार्य की भाषा भाष्यग्रन्थ की स्वरूपानुसार विषय के अनुरूप कहीं तो पूर्ण बोधगम्य तथा सरल रूप में प्राप्त होती हैं कहीं पर विषय के कठिन होने के कारण भाषा में गुरुता देखी जाती है। किन्तु सरल भाषा भी भाव के गम्भीर होने से गम्भीर स्वरूप को धारण कर लेती है। अतएव इस भाष्य को प्रसन्न गम्भी कहा जाता है।

अन्नं भट्ट का उद्देश्य था कि एक सामान्य जिज्ञासु व्यक्ति जो अल्प बुद्धि होने के कारण भाष्य जैसे ग्रन्थों का अध्ययन करके विषय के धारण में समर्थ नहीं है। वह सामान्य पद्धति से ही सिद्धान्त तत्व का जिज्ञासु है। वह चाहता है कि सरल पद्धति से ही कम से क शब्दों में सूत्रों के स्वरूप को जानकर उनसे प्राप्त ब्रह्म तत्त्व विषयक अनुपम ज्ञान को ग्रहण कर सके। अन्न भट्ट ऐसे ही मनुष्यों के लिए ब्रह्म सूत्रों पर मिताक्षरा वृत्ति का प्रणयन किया। जिसमें सरल, सुबोध शब्दों के द्वारा सूत्रार्थों का विवरण प्रस्तुत करते हुए पूर्ण तात्पर

स्थापित करने का सफल प्रयास किया। और उस प्रयास में वे सफल रहे। इसीलिए मिताक्षरा वृत्ति की भाषा जहाँ सरल है वहीं शब्दों का संयोजन ऐसा है कि अध्येता उनसे दूर नहीं भागता। क्योंकि महत्त्वपूर्ण विषय के उपस्थापक सूत्रों का विवरण उसे अत्यल्प शब्दों के अध्ययन से ही प्राप्त हो जा रहा है। यद्यपि कहीं-कहीं विशेषकर आदि के चार सूत्रों में कुछ स्थल पर पाण्डित्य प्रदर्शन का उत्साह इनमें भी दिखलाई पड़ता है किन्तु उसे विषय के स्पष्ट के लिए उस विवेचन को यदि अत्यावश्यक मान लिया जाय तो वह भी उनका उत्साह दोषकर नहीं कहा जा सकेगा। अन्नंभट्ट का उद्देश्य अल्प बुद्धियों को जो ब्रह्म विषयक जिज्ञासा दूर करना था, तदर्थ मिताक्षरा वृत्ति व्याख्यान की भाषा सफल है। क्योंकि इससे सरल तथा भाव प्रकाशक भाषा का प्रयोग असम्भव नहीं तो दुर्लभ अवश्य कहा जा सकता है।

शारीरक भाष्य जैसा कि नाम से ही समझा जा रहा है कि यह व्याख्यान भाष्य के शैली में हुआ है। अर्थात् सूत्रार्थों का विवेचन करते हुए सूत्रार्थ के अनुसार विषयगत तात्पर्य का पूर्ण प्रकाशन और परोक्ष-अपरोक्ष तर्कों का समाधान तथा समीक्षण करते हुए मूल सिद्धान्त की स्थापना की गई है। अतएव भाष्य का लक्षण इस ग्रन्थ में पूर्णरूप से संगठित होता है।

मिताक्षरा व्याख्यानवृत्ति शैली में है। और उस शैलीगत विशेषताओं को यह व्याख्यान ग्रन्थ अपने में सर्वथा धारण करता है। सूत्रों के पदों का सन्धि विच्छेद पदार्थों का निरूपण समस्त पदों का विग्रह निर्धारण, अत्यावश्यक आगत आक्षेपों का समाधान वृत्ति शैली का स्वरूप है। और उस शैली का पुरा स्वरूप मिताक्षरा वृत्ति में प्राप्त होता है।

इन दोनों ग्रन्थों के शैलीगत विभिन्नता के कारण ही ग्रन्थों के आकार तथा विवेचन प्रकार में भी भिन्नता दिखाई पड़ती है।

अन्नं भट्ट ने सूत्रों के व्याख्यान में बहुत से श्रुति वाक्यों का प्रयोग किया है। जो संहिता ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों से उद्धृत हुए हैं। अधिकांश श्रुति वाक्य भाष्य एवं वृत्ति ग्रन्थ में समान रूप से उपलब्ध होते है। परन्तु वृत्ति ग्रन्थ में कुछ ऐसे श्रुतिवाक्य है जिनका अन्यत्र प्रसंग विशेष में भाष्य ग्रन्थ में भले ही प्रयोग हुआ है किन्तु जिन सूत्रों के मिताक्षरा व्याख्यान में इनका प्रयोग हुआ है, वे भाष्य ग्रन्थ में उन सूत्रों में नहीं है। उन सूत्रों में कुछ का उदाहरण इस प्रकार है-

[1] <u>"अथातो ब्रह्म जिज्ञासा"</u>

1. छान्दोग्य- [2] "तत्वमसि", "ब्रह्म संस्थोऽमृतत्वमेति" ।
2. बृहदारण्यक- "अयमात्मा ब्रह्म"

   "शान्तो दान्त:"

   "इदं सर्वं यदयमात्मा"
3. मुण्डकोपनिषद्- [3] "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्"

   "तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ"

<u>"जन्माद्यस्य यत:"</u> -

तैत्तिरीय [4] "आत्मन आकाशस्संभूत:"

[5] "अविशिष्टमपर्यायानेक शब्दप्रकाशितम् ।
एकं वेदान्त निष्णाता अखण्डं प्रतिपेदिरे ।।"

---

1. छान्दोग्य {6·8·7}, {2·23·1}
2. बृहदारण्यक {2·5·19}, {4·4·23}, {4·5·7}
3. मुण्डकोपनिषद् {1·2·12·}, {2·2·5}
4. तैत्तिरीय {2·1·}
5. कल्पतरु

।। "शास्त्रयोनित्वात्" ।।

ऋक संहिता - [1] "धाता यथापूर्वमकल्पयत्"

बृहदारण्यक - [2] "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि"

तैत्तरीय - [3] "यतो वाचो निवर्तन्ते"

।।"तत्तु समन्वयात्"।।

बृहदारण्यक - [4] "तदेतद्ब्रह्मपूर्वमपरमनन्तरमबाह्यं अयमात्मा ब्रह"।

मुण्डकोपनिषद्- [5] "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्"।

छान्दोग्य - [6] "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरणाणि"।

"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्"

तैत्तिरीय - [7] "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"

पूर्वोक्त इन सभी सूत्रों के श्रुति वाक्य इन सूत्रों के भाष्य ग्रन्थ में प्राप्त नहीं होते हैं। इसी तरह अन्य बहुत से सूत्र हैं जिनमें वृत्ति ग्रन्थ में तो उन श्रुति वाक्यों का प्रयोग है किन्तु उन्हीं सूत्रों के भाष्य ग्रन्थ के उन श्रुति वाक्यों का प्रयोग नहीं प्राप्त होता।

---

1. ऋक संहिता {10.100.3}
2. बृहदारण्यक {3.9.26}
3. तैतिरीय {2.9}
4. बृहदारण्यक {2.5.19}
5. मुण्डकोपनिषद् {1.2.12}
6. छान्दोग्य {6.3.2},6.1.4
7. तैत्तिरीय {2.1.}

मिताक्षरा वृत्ति की उपादेयता

ब्रह्मसूत्र वेदान्त दर्शन के उपनिषदों के अनन्तर ऐसे मूलभूत तत्त्व है जिनके द्वारा सम्पूर्ण वेदान्त दर्शन अपने वृहद् स्वरूप में विद्यमान है। ब्रह्म जगत् तथा माया का पूर्ण विवेचन कर मूलभूत तत्त्व का पूर्ण परिचय और उसका प्रायोगिक ज्ञान वेदान्त दर्शन से प्राप्त कर जिज्ञासु प्राणी प्रारब्ध कर्मों के भोग के कारण शरीर को धारण करते हुए भी अपने को ब्रह्मस्वरूप में जानकार {अहं ब्रह्मास्मि} जीवनमुक्ति की स्थिति में संसार में विद्यमान रहता है। प्रारब्ध कर्मों के समाप्त होने पर पूर्णमुक्ति को प्राप्त करता है।

इन ब्रह्मसूत्रों पर जितने भी श्रेष्ठ विचारक आचार्य हुए हैं सभी से कुछ न कुछ इनके तात्पर्य को विशद करने का सफल प्रयास किया। इस परिप्रेक्ष्य में इन ब्रह्मसूत्रों पर उन-उन आचार्यों के विवरण ग्रन्थ, वृत्ति ग्रन्थ तथा अनेक भाष्य ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। जिनमें यद्यपि प्राचीन वृत्ति ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, फिर भी उनके आधार पर तथा स्वत: उद्भूत अलौकिक ज्ञान से प्रकाशित तात्पर्य विशेष अभिप्राय को स्पष्ट करते हैं। इनमें शंकराचार्य का शारीरक भाष्य, भास्कराचार्य का भास्करभाष्य , रामानुजाचार्य का वेदान्त परिजात भाष्य श्रीकंठाचार्य का शैव भाष्य, श्रीपतिकृत श्रीकरभाष्य, बल्लभाचार्य का अणुभाष्य विज्ञानभिक्षु का विज्ञानामृत भाष्य , और बलदेवाचार्य कृत गोविन्द भाष्य उल्लेखनीय है। इन भाष्यों के अनेक अत्यन्त प्रौढ़ व्याख्यान ग्रन्थ भी उपलब्ध होते है। जिनमें आचार्य वाचस्पति मिश्र कृत शरीरक भाष्य की भामती टीका, रामानुजाचार्य के श्रीभाष्य की श्रुतप्रकाशिका टीका विशेष उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त भी कल्पतरू, परिमल आदि अनेक ग्रन्थ ब्रह्मसूत्रों के अभिलसित अभिप्राय को प्रकाशित किये है।

इस प्रकार ब्रह्मसूत्रों पर कितने वृत्ति भाष्य विवरण आदि ग्रन्थों के विद्यमान रहने पर भी अनेक प्रकार से ब्रह्मसूत्र विषयक तात्पर्य का निर्णय हो जाने के पश्चात् कोई विवेच्य विषय अवशिष्ट नहीं दिखलाई पड़ता। इसके विवेचन के लिए अन्य वृत्तियों की आवश्यकता हो। क्योंकि पूर्वोक्त ग्रन्थों से प्रत्येक विषय विवेचित है। इस तरह अन्नं भट्ट का इन ब्रह्मसूत्रों पर वृत्ति ग्रन्थ लिखना एक साहस मात्र प्रतीत होता है। लगता है अपने वैदुष्य के मद से मत अन्नं भट्ट कुछ भी लिखने के लिए आतुर थे और इन्होंने पूर्ण विवेचित ब्रह्म सूत्रों पर भी वृत्ति ग्रन्थ लिखा। किन्तु उसका कोई विशेष प्रतिफल प्राप्त नहीं हुआ जो भिन्न-भिन्न भाष्य ग्रन्थों के माध्यम से हमें प्राप्त हो रहा । क्योंकि इस वृत्ति ग्रन्थ के द्वारा वर्णित विषय का ही पुन: कथन मात्र प्रतीत होता है, जो पिष्टपेषण कहा जा सकता है।

किन्तु अन्नंभट्ट जैसे विद्वान आचार्य के प्रति उपरोक्त आरोप निराधार ही प्रमाणित होते है। जब हम समीक्षात्मक दृष्टि से इन पर विचार करते हैं। क्योंकि अन्नं भट्ट अन्य पूर्वाचार्यों की तरह न तो किसी अन्य विशिष्ट मत का तात्पर्य ब्रह्मसूत्रों के द्वारा प्रकट करना चाहते थे और न ही प्रौढ़ व्याख्यान ग्रन्थ के द्वारा पाण्डित्य का प्रदर्शन। उन्हें तो वह सामान्य बुद्धि वाले ब्रह्मजिज्ञासुयों का वह निरीह स्वरूप दिखाई पड़ रहा था। जो ब्रह्म सूत्रों के तात्पर्य को जानना चाहते थे किन्तु उनको जानने के लिए वृहत्काय इन भाष्य ग्रन्थों के अध्ययन में अल्प बुद्धि होने के कारण प्रवृत्त होने से कतराते थे। अर्थात् उनके समझने और बुद्धि में उनके हृदयङ्गम का वह सामर्थ्य ही नहीं था। अतएव अन्नंभट्ट ऐसे सामान्य बुद्धि मनुष्यों के उपकारार्थ सरल , सुबोध, भाषा का आश्रयण कर अल्प अक्षरों में ही सूत्रों का सम्पूर्ण स्वरूप प्रकट करने की इच्छा से व्याख्यानों में वृत्ति का स्वरूप आश्रयणकर मिताक्षरा वृत्ति व्याख्यान ब्रह्मसूत्रों पर किया। इस ग्रन्थ के अध्ययन

से जहाँ सूत्र ग्रन्थों का पूर्ण अभिप्राय प्राप्त कर ब्रह्म ज्ञान का अमूल्य लाभ प्राप्त करता है। वहीं दुरूह शब्दावली तथा तर्क कंटकों से अपने को सुरक्षित अनुभव करता है। मिताक्षरावृत्ति में सूर्य के समान यद्यपि प्रखर तेज तथा प्रकाश नहीं है तथापि चन्द्रमा के समान पयोधवल प्रकाश तथा वह शीतलता है जिससे अल्पप्रज्ञ व्यक्ति अपने को पूर्ण सन्तुष्ट अनुभव करता है।

यह मिताक्षरा वृत्ति न केवल अल्पज्ञ के लिए अपितु तीक्ष्ण बुद्धि वाले व्यक्तियों के लिए भी अत्यन्त उपादेय है। क्योंकि सामान्य ज्ञान विशेष ज्ञान में कारण माना जाता है। यदि हम किसी ज्ञेय वस्तु के सामान्य स्वरूप से भी परिचित नहीं है तो उसका विशेष स्वरूप सरल रीति से नहीं कर सकते है। ठीक उसी तरह ब्रह्मसूत्रों का भी सामान्य ज्ञान यदि असम्भव नहीं तो कुछ सम्भव तो है ही किन्तु इस मिताक्षरा वृत्ति के द्वारा सूत्रों के अर्थों का , सम्बन्धित वाक्य संयोजन का, विग्रह का, पूर्व सूत्रों से प्रस्तुत सूत्र के साथ पूर्वापरिभाव का, सम्बन्धित विषय के आक्षेप एवं समाधान का जब एक व्यवस्थित स्वरूप ज्ञात हो जाता है तब इस पर अनेक मत मतान्तरों का उल्लेख करके तर्कपूर्ण आक्षेप समाधानों का तथा एक स्वतंत्र विचार विशेष का ज्ञान बिना अधिक परिश्रम के ही प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार सरल रीति से ज्ञात करने के लिए अल्पप्रज्ञों के लिए और सामान्य ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर विशेषज्ञान प्राप्त करने के लिए सुबुद्ध मनुष्यों के लिए यह वृत्ति ग्रन्थ विशेष रूप से उपादेय है और इसकी उपादेयता दोनों के लिए इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। क्योंकि इसके अतिरिक्त और ऐसा कोई साधन नहीं है जिसका आश्रयण करके पूर्वोक्त समस्या से छुटकारा पाया जा सके। अत: इस वृत्ति ग्रन्थ की सभी के लिए सार्वकालिक उपादेयता पूर्णतया सिद्ध होती है।

वृत्तिकार के उद्देश्य में सफलता

अन्नं भट्ट का उद्देश्य कम से कम शब्दों में सरल भाषा का आश्रयण करके ब्रह्मसूत्र के मूल तात्पर्य का सरल रीति से ज्ञान कराना रहा है। अन्नंभट्ट न केवल एक मूर्धन्य विद्वान तथा सुप्रसिद्ध ग्रन्थरचनाकार थे अपितु एक सफल अध्यापक भी थे इनकी व्याकरण, न्याय, मीमांसा तथा अद्वैत वेदान्त में पूर्ण योग्यता थी और ये उन सभी विषयों का अध्यापन करते थे। सर्वत्र इन्होंने शास्त्रोपदेश के समय यही अनुभव किया कि प्रत्येक ग्रन्थों का स्वरूप पूर्व में छात्रों के लिए अत्यन्त कठिन होता है। भाषा के परिचय में ही अधिक समय एवं श्रम व्यय करने के पश्चात ग्रंथ से परिचय प्राप्त होता है। तदनन्तर जिज्ञासु व्यक्ति ग्रन्थ के तात्पर्य से पूर्ण परिचित होता है। अन्नं भट्ट उस श्रम एवं समय के सदुपयोग के लिए सभी अपने विषयों के मूल स्वरूप ग्रन्थों का प्रणयन कर छात्रों के लिए एक सुगम मार्ग का स्वरूप निर्धारण कर सभी का महान उपकार किया। इस तरह न्यायशास्त्र में प्रवेश के लिए जैसे तर्क संग्रह विद्वत् मंडली में प्रशंसा का पात्र बना किन्च मीमांसा दर्शन में जिस प्रकार तंत्र वार्तिक की टीका सुबोधिनी और न्याय सुधा की व्याख्या रणकोजीवनी चर्चित हुई उसी तरह ब्रह्मसूत्रों पर मिताक्षरा वृत्ति आज भी उतनी उपादेय तथा विद्वत् समाज में सम्मानित है जितनी अपने में पहले रही होगी। यद्यपि काल के प्रभाव से कुछ समय मिताक्षरा वृत्ति अध्ययन अध्यापन के स्वरूप में स्थित न होने से कुछ दूर सी थी। किन्तु उसके आवश्यकता पर न्यूनता का आरोप नहीं लग सकता। वृत्ति ग्रन्थ अपने उद्देश्य में पूर्णतया सफल है। और इसके लेखक अन्नं भट्ट अपने उद्देश्य में निश्चित रूप से सफल कहे जा सकते है।

0 0 0 0 0

0 0 0

0

तृतीय अध्याय

वेदान्त दर्शन के विवेच्य विषयों में मिताक्षरा का योगदान

वेदान्त के विवेच्य विषयों में मिताक्षरा का योगदान

ब्रह्मसूत्रों के द्वारा वेदान्त के प्रत्येक अंगों पर पूर्ण विचार प्रस्तुत किया गया है। ऐसा वेदान्त दर्शन से सम्बन्धित कोई अंश नहीं है जिसका प्रतिपादन ब्रह्मसूत्रों से न हुआ हो। संक्षेप में इतने प्रमुख तत्त्व का विवेचन करना वादारायण के ही सामर्थ्य में था अन्य की गति नहीं थी। जिस सत् तत्त्व का विवेचन सैकड़ों उपनिषदों में अनेक प्रकार से किया गया और उस विवेचन को ही अपूर्ण मानकर नेति-नेति इस कथन की आवृत्ति की गई उसी परम तत्त्व को 555 सूत्रों तथा 191 अधिकरणों के द्वारा वादारयण ने बहुत ही सहज रीति से कहने का प्रयास किया।

वादारयण के इन ब्रह्मसूत्रों का यद्यपि व्याख्यान बोधायन, भारूचि, टंक प्रभृत्ति आचार्यों के द्वारा हुआ किन्तु ये स्थान उन्हें पूर्णतया सुरक्षित नहीं प्राप्त हो सका जो स्थान आचार्य शंकर को प्राप्त हुआ। आचार्य शंकर ने ब्रह्म सूत्रों के प्रत्येक अंश का तात्त्विक विवेचन करते हुए उनके तात्पर्य को विशद रूप से प्रदर्शित किया। इसीलिए भाष्यकर्त्ता के रूप में प्रथम प्रसिद्धि आचार्य शंकर को ही प्राप्त हुए। आचार्य शंकर ब्रह्म सूत्रों के आदि भाष्यकार्य के रूप में सर्वदैव स्मृत रहेंगे। इनके अनन्तर जो भी अद्वैतवादी ब्रह्मसूत्रों के व्याख्याकार हुए हैं उनमें सभी में आचार्य शंकर का प्रकृष्ट प्रभाव देखा जाता है। इस परम्परा में ब्रह्मसूत्रों के व्याख्याकार आचार्य अन्नं भट्ट का प्रमुख स्थानहै जिन्होंने सभी सूत्रों पर आचार्य शंकर की परम्परा के अनुसार ही वृत्ति ग्रन्थ की संरचना की है। और आचार्य शंकर के द्वारा प्रतिपादित प्रत्येक उन विषयों पर यथोचित विचार प्रस्तुत किया है।कहीं

ये विचार आचार्य शंकर के द्वारा प्रतिपादित विवेचन के समान ही है तो कहीं अपने स्वतंत्र स्वरूप को ही प्रकट करते है। वेदान्त दर्शन के उन विषयों का जिनका प्रतिपादन भगवान् वादरायण या भगवान शंकराचार्य के द्वारा हुआ है , उनमें मिताक्षरा की क्या भूमिका रही है ? इसका विवेचन अध्याय तथा पाद के अनुसार इस प्रकार प्रस्तुत है -

प्रथम अध्याय

प्रथमपाद - अध्यायों में पाद के अलावा भी विषय की प्रस्तुति अधिकरण के द्वारा हुई है। अधिकरण, विषय, विशय, पूर्वपक्ष तथा उत्तर प्रयोजन और संगति के रूप में पाँच प्रकार का माना जाता है। अधिकरण शब्द का वास्तविक अर्थ विचार है। कोई विचार (अधिकरण) एक ही सूत्र में पूरा हो गया है तो कोई विचार दो या दो से अधिक सूत्रों तक विवेचित हुये हैं। इसीलिए किसी पाद में अल्प अधिकरण हैं तो किसी में अधिक। इस पाद में ।। अधिकरणों तथा 32 सूत्रों का विवेचन हुआ है। प्रथम जिज्ञासाधिकरण में ब्रह्म विषयक विचार की जहाँ प्रतिज्ञा की गई है वहीं ब्रह्म ही जगत् का मुख्य कारण है, इस पर दृष्टिपात हुआ है। वस्तुतः यह अधिकरण ब्रह्म के विवेचन का पूर्वपीठिका है। जिसके माध्यम से ब्रह्म का निरूपण प्रारम्भ होता है। अतएव 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इस सूत्र के विचार में उसकी व्याख्या करते हुए मिताक्षराकार ने लिखा है कि-

तथा हि यजन्यं तदनित्यमिति व्याप्त्यनुगृहीतायाः तद्यथेहेति श्रुतेः प्रबलत्वात् अद्वैतश्रुति बलाच्च ब्रह्मभिन्नस्य सर्वस्यानित्यत्वावधारणात् "अपाम" इत्यादिश्रुतेः "आभूत-संप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते" इति पुराणदर्शनादापेक्षिकामृतत्वप्रतिपादनतात्पर्यवत्त्वमपि अतश्शब्दार्थः, कार्यस्यधर्मप्रतिपादकपूर्वतंत्रस्य सिद्धब्रह्म प्रतिपादकत्वाभावात् अगतार्थत्वम्।

एवं कर्तृत्वभोक्तृत्वादेरध्यस्त त्वमप्यतश्शब्देनोच्यते। तेन ज्ञानेन बन्धनिवृत्ति लक्षणो: मोक्ष: सिद्धयतीति। तस्मात्साधनचतुष्टयसंपन्नस्य यतस्साधनचतुष्टयं संभवति, पूर्वमीमांसया अगतार्थ-त्वं, कर्तृत्वभोक्तृत्वादे: अध्यस्तत्वं, अतो मोक्षसाधनब्रह्मज्ञानाय वेदान्तवाक्यविचार:कर्त्तव्य इति सूत्रार्थ:। सूत्रार्थ के माध्यम से इन्होंने ने अपना पूरा मत प्रगट कर दिया। साधन चतु-ष्टयसंपन्न व्यक्ति के लिए ब्रह्म की जिज्ञासा होती है, इसलिए ब्रह्म ज्ञान करना ही वेदान्त दर्शन का प्रमुख प्रयोजन है और यह ब्रह्म इस विवेच्य ग्रन्थ का विषय है। बिना विषय का विवेचन किये ज्ञान सम्भव नहीं है इसलिए विवेचन करना आवश्यक है।

जिज्ञासा के विषय ब्रह्म के स्वरूप विवेचन में सूत्रकार ने तीन सूत्रों काप्रणयन किया और ये तीनों सूत्र एक-एक अधिकरण से सम्बन्धित हैं। ये तीनों सूत्र हैं-[1] "जन्माद्यस्य यत: "शास्त्रयोनित्वात्", तत्तुसमन्वयात। तैत्तिरीय उपनिषद्[2] में "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येनजातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति।" इस वाक्य के द्वारा ब्रह्म को संसार के जन्म स्थिति तथा लय का प्रमुख कहा गया है। इसे ब्रह्म का तटस्थ लक्षण माना गया है। यद्यपि ब्रह्म नित्य बुद्ध-शुद्ध मुक्त स्वरूप है और जन्मादि प्रपञ्चनिष्ठ है। भिन्न अधिकरण होने के कारण यह ब्रह्म का लक्षण नहीं माना जा सकता फिर भी इस प्रपञ्च का कारण ब्रह्म क्योंकि माना जाता है। इसलिए यह तटस्थ लक्षण माना जा सकता है। स्वरूप से भिन्न होते हुए भी जो इतर धर्म का व्यावर्त्तक हो उसे तटस्थ लक्षण कहते हैं। यह ब्रह्म इस प्रपञ्च का न केवल निमित्त कारण है अपितु यह उपादान कारण भी है क्योंकि निमित्त कारण में कार्य का लय नहीं होता। और उपादान

---

1. ब्रह्मसूत्र 1/1/2,3,4
2. तैत्तिरीयउपनिषद् [3.1.]

कारण में कार्य का लय होता है। जैसे मिट्टी से घट का निर्माण भी होता है और मिट्टी में घट का लय भी होता है। इस लिए मिट्टी घट की उपादान कारण है। उसी तरह ब्रह्म भी जगत् का उपादान कारण है। ब्रह्म के स्वरूप लक्षण में सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म इत्यादि वाक्य प्रतिपादित स्वरूप ही माना जाता है।[1] इस प्रकार ब्रह्म के तटस्थ लक्षण के द्वारा ही जगत् के उपादान कारण के रूप में इस सूत्र के माध्यम से ब्रह्मके स्वरूप का विवेचन हुआ।

- -

1. यद्यपि जन्मादिकं प्रपञ्चनिष्ठं व्यधिकरत्वान न ब्रह्मलक्षणं, तथापि तत्कारणत्वं ब्रह्मणि कल्पितं तटस्थलक्षणं, कल्पितप्रपञ्चप्रतियो ककारणत्वस्यापि ब्रह्मणि कल्पितत्वेन तत्स्वरूपत्वाभावात्। स्वरूपभिन्नत्वे सति व्यावर्तकत्वं तटस्थत्वम्। यद्यप्यव्यभिचाराच्च जन्मादिकारणत्वं प्रत्येकमपि लक्षणं संभवति, तथापि उत्पादकत्वमात्र निमित्तसाधारणमित्युपादानत्वप्राप्त्यै लयग्रहणम्। न हि निमित्तकारणे कार्यस्य लयः संभवति। न च तावतैव उपादानत्वलाभादुत्पत्तिस्थितिग्रहणवैयर्थ्यमिति वाच्यम्। न ह्युपादानत्वं कुलधर्मतयोच्यते। किन्तु प्रकृतिविकारव्यतिरेकन्यायेनाभेदप्रतिपत्त्यै। एवं च भवतु ब्रह्म जगत उपादानं,उत्पत्तिस्थित्योरन्य एवाधिष्ठाता स्यात् कुम्भकार इव कुम्भोत्पत्तौ, राजवच्च राज्यस्थेम्नीतिमाशङ्क्योत्युत्पत्तिस्थिति ग्रहणमिति। स्वरूपलक्षणं तु "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० 2।1।1) इत्यादिवाक्यप्रतिपादितं सत्यास्वरूपत्वम्।

इस ब्रह्म का ज्ञान किसी अन्य साधन से सम्भव नहीं । क्योंकि निर्गुण निराकार होने से संसारिक दृष्टि से या कार्यभूत पदार्थों के द्वारा उसका ज्ञान सम्भव नहीं है। संसारिक प्रपञ्च से घट को देखकर घट निर्माता कुम्भकार के समान ब्रह्म का अनुमान करना सम्भव नहीं है क्योंकि संसार की अनेकरूपता होने से उसका अनुमान करना कठिन है अथवा तर्क के द्वारा प्राप्त ज्ञान चिरस्थायी न होने से अप्रतिष्ठित माना जाता है इसलिए इस ब्रह्म की स्वरूप की अवस्थिति शास्त्र के द्वारा ही सम्भव है। अतएव बृहदारण्यक उपनिषद् में [1] "सं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इस श्रुति वाक्य में ब्रह्म को औपनिषद् कहा गया है। इस प्रकार ब्रह्म का ज्ञान शास्त्र अर्थात वेद से ही सम्भव है अन्य के द्वारा नहीं । इसका निरूपण इस सूत्र के द्वारा हुआ है।

समन्वयादिकरण में तत्तुसमन्वायात् यह चौथा सूत्र है। इसमें जिस प्रकार पूर्वसूत्रों के माध्यम से जगत के निमित्त कारण के रूप में परब्रह्म को बताया गया है उसी प्रकार यह संसार का उपादन कारण भी है क्योंकि सम्पूर्ण जगत परब्रह्म से व्याप्त है। अतएव श्वेताश्वर उपनिषद् में [2] "एको देवो: सर्वभूतेषु गूढ: सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा" यह कहा गया है । इसी सिद्धान्त को [3] "नेहनानास्ति किञ्चन", [4] "ब्रह्मैव वेदऽमृतं पुरस्तात्" ये श्रुति वाक्य परब्रह्म की जगत् व्यापकता प्रतिपादित करते हैं।

---

1. बृहदारण्यक उपनिषद् 3.9.26
2. श्वेताश्वर उपनिषद् 6.11
3. बृहदारण्यक उपनिषद् 4.4.19
4. मुण्डकोपनिषद् 2.2.11

इस सृष्टि का कारण रूप में ब्रह्म की स्वीकृति है और ब्रह्म सृष्टि का निमित्त और उपादान कारण दोनों है। सृष्टि के विवेचन में जो श्रुति वाक्य प्रयुक्त हुए हैं उनमें इच्छ् धातु के द्वारा ऐच्छत्, इच्छत् इच्छानि चक्रे इत्यादि प्रयोगों से सृष्टि के क्रम को बताया गया है।[1] इससे ये जाना जाता है कि संसार के कारण रूप में इच्छा करने वाला चेतन परब्रह्म ही है जड़ प्रकृति इच्छा का आश्रय नहीं बन सकती अर्थात् उसमें इच्छा उत्पन्न नहीं हो सकती अतः वह जगत् का कारण नहीं है। किन्तु [2] "गौणश्चेन्नात्मशब्दात्" इस सूत्र में गौण अर्थ विशेष तेज तथा जल के लिए भी ऐच्छत् शब्द का प्रयोग हुआ है किन्तु उनका व प्रयोग प्रधान रूप में नहीं है। अपितु गौण रूप में है अन्यथा उन श्रुति वाक्यों का जो अप्रधान रूप में ऐच्छत क्रिया के प्रयोग से युक्त है उनका प्रधानतः ऐच्छत क्रिया के विषयभूत 'तदैक्षत् बहु-स्यां' इत्यादि श्रुति वाक्यों का विरोध हो जायेगा अतः अप्रधान रूप में उनका कथन जगत् के कारण के रूप में उचित नहीं है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए मिताक्षराकार ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है-

---

1. 1. "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" (छान्दोग्य 6.2.3)

   2. स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमान् लोकानसृजत। (ऐत० 2.4.1.1.2)

   3. स "ईक्षाञ्चक्रे" प्राणमसृजत् (प्रश्न० 6.3.4)

2. ब्रह्मसूत्र 1.1.6

"आत्मा हि स्वरूपं , न च चेतनो जीवः अचेतनस्यात्मा। ब्रह्मणि तु जीवविषय आत्म शब्द उपपद्यते। तथा, "स य एषोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो,॥छान्दोग्य 6•8•7॥ इत्यत्र श्वेतकेतोः जीवस्य सदात्मतादात्म्योपदेशात्। अप्तेजसोस्तु अचेतनत्वात् नैव किन्यत मुख्यत्वे कारणस्तोति गौणमीक्षितृत्वम्।"

इस जगत् का कारण प्रकृति को इस लिए भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि जो मोक्ष का उपदेश है वह जगत् को उद्देश्य करके ब्रह्म में ही मोक्ष का निरूपण है न कि प्रकृति में। प्रकृति को त्यागने योग्य न बताये जाने के कारण भी वह जगत् का कारण नहीं बन सकती है। क्योंकि यदि आत्मा शब्द का व्यवहार अप्रधानेन प्रकृत में होता तो बाद में उसे त्यागने को कहा जाता और प्रधान आत्मा में निष्ठा करने का उपदेश दिया जाता परन्तु ऐसा नहीं है इसलिए प्रकृति जगत् का कारण नहीं हो सकती । इस संसार का लय परब्रह्म में ही बताया गया है। इस विषय में [1] "यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते" इस श्रुति के द्वारा सत् शब्द वाच्य आत्मा को भी जगत् के कारण के रूप में निरूपित किया गया है न कि जड़ तत्त्व को। जितने भी उपनिषद् हैं सभी कारण के रूप में आत्मा को ही निरूपित करते हैं अतः आत्मा को ही जगत् का कारण मानना उचित है क्योंकि श्रुति के द्वारा ईश्वर ही जगत् के कारण के रूप में स्वीकार किया गया है। अतएव श्रुतत्वाच्च ॥ब्रह्मसूत्र 1•1•5•11॥ इस सूत्र में मिताक्षराकार ने स्पष्ट करते हुए इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

1• छान्दोग्योपनिषद् 6•8•1

[1] "स्वशब्देनैव सर्वज्ञेश्वरो जगत: कारणमिति श्रूयते, श्वेताश्वराणां मन्त्रोपनिषदे सर्वज्ञमीश्वरं प्रकृत्य,"स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिप:॥श्वेता0 6•5•॥ इति। तस्मात्सर्वज्ञं ब्रह्म जगत: कारणं ब्रह्म आनन्दस्यैवेतिसिद्धम्। ब्रह्म के प्रतिपादन में आनन्दमयाधिकरण में ब्रह्म को आनन्द शब्द से कहा गया है। मयट् प्रत्यय का आनन्द शब्द से विधान होने के कारण यह ब्रह्म आनन्द का विकार नहीं है क्योंकि मयट् प्रत्यय विकार का नहीं प्राचुर्य का बोधक है। संसार के सभी आनन्दों का हेतु परब्रह्म ही है। इस लिए उसमें आनन्द का प्राचुर्य है। वेद मन्त्रों में जिसका वर्णन है वह परब्रह्म ही है। परमात्मा में भिन्न जो जीवात्मा हैं उसमें आनन्द का प्राचुर्य नहीं है इस लिए अल्पज्ञ जीवात्मा जो कि सीमित शक्ति वाला है वह भी जगत् का कर्त्ता नहीं कहा जा सकता। इसी जीवात्मा और परमात्मा में भेद का कथन है। इसका विवेचन "भेदव्यपदेशाच्च"[2] इस सूत्र में मिताक्षराकार ने इस प्रकार किया है-

[3] "किन्च भेदेन व्यपदेशो भेदव्यपदेश:, जीवानन्दमययोर्भेदेन व्यपदेशाच्च आनन्दमयो न जीव इत्यर्थ: आनन्दमयाधिकारे " रसो वैस:। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति"॥तै0 2-7॥ इति जीवानन्दमयौ भेदेन व्यपदिशति। न हि लब्धैव लब्धव्यो भवति। आनन्दमय शब्द का ब्रह्म के लिए ही कथन है और कामना यह धर्म जड़ प्रकृति का न होकर परब्रह्म का ही माना जाता है। उस आनन्दमय परमात्मा को जीवात्मा प्राप्तकर्ता

- -

[illegible] 6•6•

1• मिताक्षरा वृत्ति 1•1•11

2• ब्रह्म सूत्र 1•1•17

3• मिताक्षरा वृत्ति 1•1•17

और उस परब्रह्म को प्राप्त करके वह जीवात्मा ब्रह्म ही हो जाता है। अतएव "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति"[1] यह श्रुति जीवात्मा को ब्रह्म रूप होकर ब्रह्म में लीन होना या ब्रह्म को प्राप्त होना बताती है।

अन्तराधिकरण में जहाँ हृदय के भीतर शयन करने वाली विज्ञानमय तथा सूर्यमण्डल के भीतर स्थित हिरण्यमय पुरुष ब्रह्म का निरूपण है क्योंकि उस ब्रह्म के धर्मों का वहाँ उपदेश हुआ है। यहाँ पर भेद का कथन होने से सूर्यमण्डलान्तरवर्ती हिरण्यमय पुरुष सूर्य के अधिष्ठाता देवता से भिन्न हैं। क्योंकि परब्रह्म और वह अधिष्ठाता देवता भिन्न भिन्न रूप में ही कथित है। अतएव बृहदारण्यक उपनिषद् में इसका इस प्रकार प्रतिपादन हुआ-

[2] " य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्य: शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत:"।

आकाशाधिकरण में तथा प्राणाधिकरण में जहाँ आकाश तत्त्व को परब्रह्म का वाचक माना गया है और उस रूप में उसके लक्षणों को भी श्रुति वाक्यों में दिखलाया गया है।[3] यथा ये समस्त भूत निस्सन्देह आकाश से ही उत्पन्न हुए हैं और आकाश में भी विलिन होते हैं। आकाश ही इनमें श्रेष्ठ तथा सबका आधार है। इस लिए श्रुति में इस प्रकार के प्रतिपादन से यह आकाश ब्रह्म का वाचक माना जाता है। इसी तरह उस ब्रह्म को प्राण

- -

1· बृहदारण्यक उपनिषद् 4·4·6

2· बृहदारण्यक उपनिषद् 3·7·9

3· सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशम्प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाश: परायणम्।"

"छान्दोग्य 1·9·1"

शब्द से ही कहा गया है-"सर्वाणि ह वा इमानिभूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते"[1] ब्रह्म में ही सभी वस्तु जात उत्पन्न होती है तथा उसी में विलीन होती है। और यह स्वरूप ब्रह्म का ही हो सकता है जो यहाँ प्राण शब्द से व्यवहृत है न कि प्राणवायु क्योंकि उसमें ये लक्षण कथमपि सम्भव नहीं है।

ज्योतिश्चरणाधिकरणम् में ज्योति शब्द से परमात्मा को ही निरूपित किया गया है। ज्योति के चार पादों का कथन है जिसमें समस्त भूत समुदाय एक पाद है शेष अन्य पाद परमधाम में स्थित बतलाया गया है, इसलिए ज्योति: शब्द ब्रह्म के अतिरिक्त जीव या प्रकृति का वाचक नहीं है। यद्यपि[2] "गायत्री वा इदम् सर्वं यदिदं किन्च" इस श्रुति से गायत्री से ही सम्पूर्ण भूत की समुत्पत्ति अवबोधित होने के कारण ये चार पाद गायत्री के भी माने जा सकते है, किन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म में चित्त का समर्पण बताया गया है। और चित्त के समाधान के लिए उस ब्रह्म का ही वहाँ गायत्री शब्द से वर्णन है। इसी तरह उद्गीत प्रणव आदि नामों के द्वारा भी उस ब्रह्म का वर्णन देखा जाता है। चार पादों में प्रथम पाद से भूत आदि का बोध कराना उचित हो सकता है इसलिए ऐसा किया गया है। यदि कहे कि उपदेश के भिन्न होने से गायत्री शब्द ब्रह्म का वाचक नहीं है तो ठीक नहीं है क्योंकि दोनों प्रकार के वर्णन की शैली में कुछ भेद होने पर भी दोनों स्थलों में श्रुति का उद्देश्य गायत्री शब्द से कथित तथा ज्योतिष शब्द का वाच्य ब्रह्म को ही परम-धाम में स्थित बताया गया है। इसकी व्याख्या करते हुए मिताक्षराकार ने इस प्रकार प्रति-पादन किया है-

---

1. छान्दोग्य -1.11.5

[1] "यथा गायत्री चतुष्पदा षडक्षरैः पादैः,एवं ब्रह्मापि चतुष्पात्। तथा गायत्री सा-दृश्येन। चेतोऽर्पणस्य ध्यानस्य निगदाद्विधनादित्यर्थः। तथाहि दर्शनं अन्यत्रापि छान्दोऽ-भिधादिशब्दः संख्यासाम्यादर्थान्तरे प्रयुज्यमानो दृश्यते। तद्यथा-"ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम्" {छा0 4•3•8} इत्युपक्रम्य,""सैषा विराट" इत्युक्तम् तस्मा-द्ब्रह्मैव पूर्वं प्रकृतं, न छन्दः।

यद्यपि गायत्री शब्द का प्रयोग करने वाले गायत्री शब्द से गायत्री छन्द का बोध करते हैं तथापि गायत्री शब्द दोनों अर्थों का वाचक हो सकता है। अर्थात् गायत्री शब्द से छन्द तथा ब्रह्म दोनों का बोध होता है और गायत्री छन्द वाले मन्त्र भी प्रतिपादक हो सकते हैं अतः दोनों अर्थों में विरोध नहीं हो सकता। प्राण शब्द की तो ब्रह्म वाचकता पहले बता ही दी गयी है। यदि कोई कहे कि वक्ता का उद्देश्य अपने को ही प्राण बतलाना है तो उचित नहीं। इसलिए प्राण शब्द ब्रह्म का वाचक नहीं है यह कथन उस व्यक्ति का ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकरण में अध्यात्म सम्बन्धित विषयों का विशेष विवेचन होने के कारण प्राण शब्द भी ब्रह्म का ही वाचक है ऐसा मानना चाहिए।

प्रतर्दनाधिकरण में प्राण शब्द से ब्रह्म का ही बोध कराया गया है यदि कहीं पर ब्रह्म से व्यक्ति विशेष का कथन है जैसे इन्द्र का [2] "मामेव हि विजानीहि" यह कथन वस्तुतः

1• मिताक्षरा वृत्ति 1•1•24

2• कौषितकी उपनिषद् 3•1•

ब्रह्म का ज्ञान करने के पश्चात अपने को ब्रह्मरूप में अनुभव करने से ही हुआ है। अतएव वामदेव ऋषि का [1] "अहंमनुर्भवं सूर्यश्च" यह कथन चरितार्थ होता है। कौषतकि उपनिषद् में जीव के लक्षण में [2] " न वाचं विजाज्ञसित वक्तारं विद्यात्" अर्थात् वाणी को जानने की इच्छा न करके वक्ता को जानना चाहिए। इस कथन से जहाँ जीवात्मा को जानने के लिए कहा गया है वहीं प्राण के लक्षणों का भी कथन है-

[3] "अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापपत्ति:" इस कथन से प्राण शब्द से जीवात्मा का बोध हो रहा है न कि परं ब्रह्म का । किन्तु यह कथन उचित नहीं है क्योंकि यह मानने पर त्रिविध उपासना का प्रसंग उपस्थित होता है और इस प्रसंग

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद् 1·4·10

2. कौषितकी उपनिषद् 3·8

3. कौषितकी उपनिषद् 3·3·

में जीव प्राण आदि के धर्मों का आश्रय भी ब्रह्म को बताया गया है इस लिए प्राण शब्द से इसी उपनिषद् के [1] "प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा, [2] स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा, नन्दोऽजरोऽमृत:।" इन श्रुति वाक्यों के द्वारा प्राणशब्द से ब्रह्म का ही ग्रहण करना चाहिए। इसी बात को सिद्धान्त रूप में प्रतिपादित करते हुए मिताक्षराकार ने अपने [3] "इहमपि तस्योपधित्रयवि-शिष्टोपासनस्य योगात् युक्तत्वादित्यर्थ:। तस्मात्र प्राणशब्दो ब्रह्मर एवेति सिद्धम्।" इस कथन से प्राण शब्द के द्वारा ब्रह्म का ही ज्ञान करना स्वीकार किया है।

द्वितीयपाद - द्वितीय पाद के प्रसिद्ध्याधिकरण तथा अत्रधिकरण में वेदान्त वाक्यों में परमब्रह्म के ही उपास्यता का निरूपण किया गया है ~~और जीव की उपास्यता का निरूपण किया गया है~~ और जीव की उपास्यता का निषेध। क्योंकि गीतास्मृति के द्वारा सबका नियन्ता ईश्वर को मानकर उसकी अपेक्षा जीव को न्यून रूप में ही स्वीकार किया गया है। यह परमात्मा सभी के हृदय में स्थित बताया गया है। [4] यद्यपि जीवात्मा और परमात्मा दोनों चेतन है, अजन्मा है, अनादि है तथा सभी शरीर में इनका हृदय देश में वास है। किन्तु परमात्मा जीव के समान सुख दुख का धर्म आदि का भोक्ता या कर्ता नहीं होता।

---

1. कौषितकी उपनिषद् 3•2
2. कौषितकी उपनिषद् 3•9
3. मिताक्षरावृत्ति 1•1•31
4. ईश्वरस्सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
   भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।
   "गीता -18•61"

मिताक्षराकार इसी बात को इस तरह स्पष्ट किया है- जीवापरमात्मनोरत्यन्तविशेषादित्यर्थः। जीवः कर्त्ता भोक्ता धर्मादिमाश्चेति तस्य सुखदुःखसंबन्धः। परमात्मा तु तद्विलक्षण इति न तस्य भोगप्रसङ्ग इत्यर्थः। यही परमात्मा चर एवं अचर का ग्रहण करने वाला भोक्ता है। अर्थात् यह परमात्मा जिस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि को उत्पन्न करता है उसी तरह संहार काल में उसको मृत्यु सहित अपने में विलीन कर लेता है यही उसका भोक्तापन है इसी लिए वह भोक्ता या अक्ता कहा जाता है। इस सृष्टि का कारण और भोक्ता कोई दूसरा अन्य व्यक्ति नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्म निरूपण के प्रकरण में ब्रह्म ही इस रूप में उपस्थित होता है। गुहाम्प्रविष्टाधिकरण में हृदय रूपी गुफा में जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों की स्थिति स्वीकार की गयी है। जीवात्मा और परमात्मा को हृदय गुफा में कठोपनिषद् में भी इस प्रकार स्थित बतलाया गया है-

[1]"ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः।"

इनके क्योंकि विशेषण पृथक्-पृथक् है परमात्मा, सर्वज्ञ, पूर्ण, ज्ञानस्वरूप तथा जीव, अल्पज्ञ , प्राज्ञ, इत्यादि रूप में निरूपित है। इसलिए ये दोनों पृथक्-पृथक् रूप में ही उपस्थित होते हैं।

अन्तराधिकरण में इस ब्रह्म को नेत्र के अन्दर दिखायी देने वाला कहा।[2] छान्दोग्य उपनिषद् के सत्यकाम उपकोशल सम्वाद में आचार्य सत्यकाम ने कहा है कि जो नेत्र में यह

---

1. कठोपनिषद्- 3·1·1·

2. य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति -

पुरूष दिखायी देता है, यही आत्मा है, यही अमृत है यही अभय है और ब्रह्म है। अमृतत्त्व आत्मत्व और अभयत्व आदि धर्म ब्रह्म में ही सिद्ध होते है अन्यत्र कहीं सिद्ध नहीं होते। इस लिए नेत्र के मध्य में स्थित वह ब्रह्म ही है। श्रुतियों में अनेक स्थलों पर ब्रह्म के लिए स्थान आदि का निर्देश है। इस लिए नेत्रान्तरवर्ती पुरूष को ब्रह्म कहना उपयुक्त नहीं है। क्योंकि जैसे नेत्र में दिखायी देने वाला पुरूष नेत्र के दोषों से सर्वथा निर्लिप्त रहता है ठीक उसी के समान ब्रह्म भी निर्लिप्त है। नेत्रान्तरवर्ती पुरूष को सुख विशिष्ट कहा गया है। आनन्दमय स्वरूप सर्वव्याप्ति तत्व रूप ब्रह्म का ही है अन्य का नहीं। इसलिए वह ब्रह्म ही है।

इस ब्रह्म को तत्त्व से जानने वाले व्यक्ति की वही गति होती है जो रहस्य विज्ञान का श्रवण करने वाले ब्रह्म वेत्ता की होती है। अतएव प्रश्नोपनिषद् में लिखा है-

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते ।

एतद वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मात्र पुनरावर्त्तन्त इत्येष निरो

अर्थात जो तपस्या के साथ ब्रह्मचर्य पूरक श्रद्धा एवं ज्ञान से ब्रह्म का अन्वेषण करके उत्तरमार्ग से सूर्यलोक को जीत लेते हैं वे ही इस प्राणों के केन्द्र अमृत और अभय पद को प्राप्त करके पुनः नहीं लौटते। इसी कथन की पुष्टि छान्दोग्य उपनिषद् में भी की गयी है। इसमें भी ब्रह्म को प्राप्त करने वाले का पुनरावर्तन नहीं होता यह बताया गया है। नेत्र में ब्रह्म की स्थिति मुख्यतः होती है अन्य किसी की सर्वदा स्थिति नहीं बन पाती। इस लिए ब्रह्म के अलावा अन्य कोई नेत्रान्तरवर्ती पुरूष नहीं हो सकता।

अन्तर्याम्याधिकरण में आदिदैविक आधिभौतिक तथा अध्यात्मिक आदि समस्त वस्तुओं में जिसे अन्तर्यामी के रूप में निरूपित किया गया है वहाँ पर ब्रह्म के ही धर्मों के निरूपण होने के कारण वह अन्तर्यामी परब्रह्म ही है दूसरा नहीं। इसका निरूपण हुआ है। सांख्यादि स्मृतियों के द्वारा प्रतिपादित प्रधान पद वाच्य प्रकृति अन्तर्यामी नहीं है क्योंकि श्रुति में जिन धर्मों का निरूपण हुआ है वे इसके नहीं है। जीवात्मा भी अन्तर्यामी ब्रह्म तत्त्व नहीं है। क्योंकि यजुर्वेद के माध्यान्दनी एवं काण्व शाखाध्यायी जीव को अन्तर्यामी से भिन्न मान करके ही उसका अध्ययन करते है अत: अन्तर्यामी के रूप में परब्रह्म के अलावा कोई दूसरा नहीं है।

अदृश्यत्वादिगुणकादिधिकरण में परमात्मा को अदृश्यत्वादि अनेक गुणों वाला निरूपित किया गया है क्योंकि कुछ जगह जहाँ पर अदृश्यत्वादि गुणों का निरूपण है वहीं पर सर्वज्ञता आदि धर्मों का भी कथन है और वे धर्म परब्रह्म के ही है। उस अदृश्यत्वादि सर्वज्ञत्वादि ब्रह्म का पूर्ण विवेचन मुण्डकोपनिषद् में किया गया है।[1] इस प्रकार जिसतरह इन विशेषणों के द्वारा उस परब्रह्म का निरूपण हुआ है उससे उसकी प्रकृति तथा जीवात्मा से भिन्नता

- -

1. यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षु: श्रोतं तदपाणिपादम् ।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्म तदव्यं तद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीरा:।।
य: सर्वज्ञ: सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तप: ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ।।

"मु0 1•1•6, 1•1•9"

स्वत: सिद्ध हो जाती है वेदों में जहाँ भी परब्रह्म के विराट स्वरूप का वर्णन होता है वहाँ सम्पूर्ण प्राणियों के कारण रूप में ही उसका निरूपण हुआ। इस परिप्रेक्ष्य में मुण्डकोपनिषद् का यह वाक्य अवश्य ही पठनीय है-

[1]"अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिश: श्रोते वाग् विवृताश्च वेदा: ।
वायु: प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा।।"

इस प्रकार विराट स्वरूप में परब्रह्म को ही सबका अन्तर्यामी स्वीकार किया गया है। वैश्वानर अधिकरण में वैश्वानर शब्द से ब्रह्म का ही विवेचन हुआ है। जहाँ ऋग्वेद में "विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नाम कृण्वन्" {ऋ0 स 10•88•12} , "वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनामभिश्री:" {ऋ0सं0 1•98•1} वैश्वानर शब्द का वर्णन इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्रों में हुआ है। वहाँ उससे यद्यपि देवतात्मा के रूप में प्रयोग दिखायी देता है और आत्म शब्द जीव तथा परमात्मा दोनों के रूप में प्रयुक्त हुआ है फिर भी वैश्वानर शब्द से परमात्मा का ही ग्रहण करना तर्कसंगत है। कई स्मृतियों में भी विराट स्वरूप के वर्णन में परमात्मा को ही वैश्वानर शब्द से निरूपित किया गया है यद्यपि [2] कुछ स्थल पर वैश्वानर शब्द जठराग्नि के लिए भी प्रयुक्त देखा जाता है फिर केवल जठराग्नि से परमात्मा के अन्य गुणों का साम्यता नहीं दिखायी पड़ती। अत: इस

1• मुण्डकोपनिषद् -2•1•4

2• अयं अग्नि: वैश्वानरो: योऽयमन्त: पुरुषे येनेदमन्न पच्यते।

"पृष्ठ 5•9"

शब्द ब्रह्म तत्त्व का ही ग्रहण करना चाहिए। कुछ स्थल पर वैश्वानर शब्द से अग्नि को कहा गया है। किन्तु उस स्थल में पुरुष नाम देकर के भी पढ़ा जाता है इस लिए वैश्वानर शब्द से ब्रह्म का ही ज्ञान करना चाहिए। वैश्वानर शब्द से परब्रह्म के अर्थ की परिपुष्टि में मिताक्षराकार ने इस प्रकार विवेचन किया है-

"पूर्वापरपर्यालोचनया वैश्वानरशब्दस्य परमेश्वरपरत्वे, परमेश्वर एव वैश्वानरशब्दः केनचिद्योगेन वर्णनीय इत्यभिप्रायः। विश्वश्चायं नरश्चेति वा, विश्वेषां नर इति वा, विश्वे नरा यस्येति वा, विश्वनरः। विश्वनर एव वैश्वानरः।"

इस प्रकार वैश्वानर शब्द से परब्रह्म का ज्ञान करना सभी आचार्यों के मत में युक्ति संगत है। जैमिनि वैश्वानर शब्द से विराट स्वरूप परमात्मा का बोध करते है और आश्मरथ्य, सर्वत्र, व्याप्त, ब्रह्म का भक्तों के लिए प्रगट होना भी विरुद्ध नहीं मानते। आचार्य बादरि भी विराट रूप में स्मृत परब्रह्म को देश विशेष से सम्बद्ध बताने में विरोध नहीं मानते आचार्य जैमिनी अनन्त ऐश्वर्य सम्पन्न पर ब्रह्म की सर्वत्र स्थिति स्वीकार करते है इस तरह विराट स्वरूप परब्रह्म सर्वत्र व्याप्त होने पर भी उपास्य के रूप में स्थित भक्तार्थ देशविशेष से भी सम्बद्ध होता है।

---

1. " स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद।"

"शतपथ ब्रा० 10•6•7•11"

<u>तृतीय पाद</u> – द्युभ्वाद्यधिकरण में जहाँ द्युलोक और पृथ्वी आदि लोकों के आधार के रूप में जीवात्मा तथा प्रकृति से भिन्न ब्रह्म तत्त्व का प्रतिपादन है वहीं भूमाधिकरण में ब्रह्म को ही भूमा शब्द से प्रतिपादित किया गया है। अक्षराधिकरण में ब्रह्म को अक्षर के रूप में निरुपित किया गया है और ईक्षति कर्माधिकरण में ॐ इस अक्षर के द्वारा ध्येय तत्त्व ही ब्रह्म है इसका विशेष निरूपण हुआ है। दहराधिकरण में दहराकाश की ब्रह्म रूपता का प्रतिपादन विशेषरूप से हुआ है। इसके विवेचन में मिताक्षराकार ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है–

1. "किञ्च"–"इमास्सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति" {छा08. 3.2} इति दहरवाक्ये प्रकृतं परमेश्वरं ब्रह्मलोकशब्देन निर्दिश्य, जीवानां सुषुप्तिकाले प्रत्यहं तद्विषयगतिरूच्यमाना दहरस्य ब्रह्मतां गमयति।"

इस प्रकार दहराकाश के ब्रह्मरूपता का प्रतिपादन इस अधिकरण में पूर्णरूप से हुआ है। दहर में सम्पूर्ण लोकों को धारण करने की शक्ति बतायी है और वह शक्ति परब्रह्म में ही है। इसलिए दहर शब्द से परब्रह्म से ही होता है जो लक्षण दहर के बताये गये वे परब्रह्म के अलावा जीव या प्रकृति में कहीं भी उपलब्ध नहीं होते। इसलिए वे इसके अर्थ नहीं कहे जा सकते। जहाँ कहीं भी इस शब्द से जीवात्मा का परामर्श हुआ है वहाँ ब्रह्म ज्ञान के पश्चात् बहुत से दिव्य गुण जीवात्मा में आ जाते है इसीलिए वहाँ पर तद्रूप

---

1. मिताक्षरावृत्ति 1.3.15

में वर्णन मानना युक्ति संगत कहा जा सकता है। अतएव गीता में [1] "इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम, साधर्म्यमागता:" इत्यपदि रूप में ब्रह्मज्ञ में ब्रह्म साधर्म्य को बताया गया है। किन्तु अन्य जो दिव्य गुण है जिनका उल्लेख पूर्व में हुआ है, वे गुण जीवात्मा में नहीं है इसलिए दहर शब्द से परब्रह्म के अलावा किसी का ग्रहण नहीं होता है। अनुकृत्य अधिकरण में जीवात्मा के साथ मनुष्य के हृदय में अल्प परिमाण में स्थित होने के कारण भी परब्रह्म को अल्प परिमाण वाला बताया गया है। अतएव छान्दोग्य उपनिषद् में जीवात्मा के साथ उसके स्थिति को निरूपित किया गया है-

[2] "सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्।" प्रमिताधिकरण में कठोपनिषद के [3] "अङ्गुष्ठमात्र: पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्य।" इस वाक्य में ईशानो भूत भव्यस्य के कथन के द्वारा ईश्वर को अङ्गुष्ठ मात्र स्वरूप वाला बताया गया है। इस तरह इस अधिकरण में जहाँ परब्रह्म को अंगुष्ठा मात्र का स्वरूप बताया वहीं सर्वगत ईश्वर का हृदय देश में स्थित होने के कारण अङ्गुष्ठमात्र सिद्ध की गयी है। अतएव मिताक्षराकार ने अपने [4] "हृदपेक्षया, सर्वगतस्यापीश्वरस्य अङ्गुष्ठपरिमाणहृदयावच्छिन्नतया अङ्गुष्ठमात्रत्वं संभवतीत्यर्थ:।" इस कथन के द्वारा परब्रह्म

---

1. गीता 14·2
2. छान्दोग्य 6·3·3·
3. कठोपनिषद् 2·1·12
4. मिताक्षरा वृत्ति 1·3·7

की अङ्गुष्ठमात्रता स्वीकार किया है। देवताधिकरण में ब्रह्म विद्या का जानने का अधिकार न केवल मनुष्यों का है अपितु देवता भी इसके अधिकारी हो सकते है । यद्यपि देवताओं को शरीरधारी मानने पर जन्ममरणादि दोष मानना पड़ेगा जबकि वेदोक्त शब्दों को नित्य एवं प्रमाणभूत माना जाता है। और ये देव वेद शब्द से ही जाने जाते हैं अतः इनकी नित्यता मानना आवश्यक है। इसी लिए वेद को नित्य माना जाता है क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में वेदोक्त शब्दों के द्वारा ही परब्रह्म ने सबके नाम कर्मो को पृथक-पृथक रूप में बनाया है। किन्तु देवताओं के द्वारा दिव्य सामर्थ्य होने के कारण एक ही समय पर अनेक स्वरूपों का धारण करना सम्भव है अतः उनमें अनित्यता का प्रश्न नहीं आता और उन्हें ब्रह्मविद्या का अधिकार है। यह स्वीकार किया जाता है। आचार्य बादरायण ने देवता का भी ब्रह्म विद्या में अधिकार माना। जैमिनी मधु विद्या में देवताओं का अधिकार नहीं मानते। यज्ञादि कर्म तथा ब्रह्मविद्या में भी ज्योतिर्मय रहने के कारण देवताओं का अधिकार स्वीकार करते है। अपशूद्राधिकरण में वेद विद्या के विषय में शूद्रो के अधिकार का खण्डन किया गया है। तथा कम्पनाधिकरण में अङ्गुष्ठमात्र पुरुष के ब्रह्मरूपता के विषय में युक्तिपूर्वक विचार किया गया है। ज्योतिरधिकरण तथा अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिकरण में ज्योति तथा आकाश शब्द से ब्रह्म का निरूपण हुआ है। सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरण में सुषुप्ति तथा मृत्यु काल में जीव और ब्रह्म का भेद का वर्णन है वहाँ उस परब्रह्म के लिए आकाश शब्द का प्रयोग हुआ है। श्रुति में पति, परमपति, परमेश्वर आदि शब्दों का प्रयोग होने से भी जीवात्मा और परमात्मा का स्पष्ट परिलक्षित होता है।

<u>चतुर्थपाद</u>- आनुमानिकाधिकरण में कठोपनिषद् के [1] "महत: परमव्यक्तं अव्यक्तपुरुष:पर:" इस वाक्य में अव्यक्त शब्द से प्रधान या शरीर किसका ग्रहण हो इस सन्देह में सांख्य शास्त्र में प्रतिपादित अव्यक्त शब्द से प्रधान प्रकृति का ही ग्रहण किया जाता है। किन्तु वस्तुत: अव्यक्त शब्द से शरीर का ही ग्रहण होता है। अतएव इसी उपनिषद् में [2] "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मन: प्रग्रहमेव च ।।" शरीर को अव्यक्त शब्द से गृहीत किया गया है। इस तरह इस अधिकरण में संसार की उत्पादक के रूप में परब्रह्म का निरूपण करके प्रकृति के रूप में उसके जगत् उत्पादकत्व का खण्डन किया गया है। चमसाधिकरण में जहाँ प्रधान के जगत् कारणता का खण्डन है और उसके ऐसा मानने पर अनेक दोषों का उल्लेख करके उनमें आगत भेदों का परिहार किया गया है। वेद के विरोधी जितने भी मत मतान्तर उपस्थित हुये उन सबका निराकरण इस अधिकरण में हुआ है। न संख्योपसंग्रहाधिकरण में तथा करणत्वाधिकरण में ब्रह्म कारणवाद के विरुद्ध उठायी गयी समस्त शंकाओं का समाधान करके युक्तियों और दृष्टान्तों के द्वारा सत्कार्यवाद स्थापना करके ब्रह्म से जगत् की अनन्यता बतायी गयी है। क्योंकि यह जड़ चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् चेतन परमेश्वर से ही निर्मित है जड़ प्रकृति से नहीं। जगद्वाचित्वाधिकरण में युक्तियों और दृष्टान्तों के द्वारा सत्कार्यवाद की स्थापना करते हुए ब्रह्म से जगत् की अनन्यता का प्रतिपादन हुआ है। वाक्यान्वयाधिकरण में जहाँ पर केवल आत्मा शब्द का ही प्रयोग हुआ है वहाँ आत्मा शब्द से किसका ग्रहण करना चाहिए। इस संशय में पूर्वापर वाक्यों के

---

1. कठो० 1·3·11

2. कठो० 1·3·3·4

के पर्यालोचन से ब्रह्म में ही उसका अन्वय दिखायी पड़ता है, अत:[1] "आत्मा वाऽरेद्रष्टव्य:" यहाँ पर आत्मा शब्द से परब्रह्म का ही ग्रहण करना चाहिए। यही अर्थ[2] आचार्य आश्मरथ्य भी मानते है। शरीर को छोड़कर ब्रह्म ज्ञानी का ब्रह्मविलीन होना जो श्रुति ने बताया है। यथा[3] "तथा विद्वान नामरूपा विमुक्त: परात्परम् पुरुषमुपैतिदिव्यम्" इससे परब्रह्म की ही जगत् कारणता सिद्ध होती है ऐसा आचार्य औडलोमी मानते है। आचार्य काशकृत्स्न प्रलयकाल में जगत् की स्थिति को परब्रह्म में ही स्वीकार करते है। और उक्त प्रकरण में जीव और मुख्य प्राण के वर्णन में परब्रह्म को ही जगत् का कारण सिद्ध करते है। प्रकृत्याधिकरण तथा सर्वव्याख्यानाधिकरण में ब्रह्म को सम्पूर्ण जगत् का अभिन्न रूप से निमित्त कारण तथा उपादान कारण स्वीकार किया।

---

1. बृहदारण्योपनिषद् 4.5.6
2. ब्रह्मसूत्र 1.4.20
3. मुण्डको0 3.2.8

द्वितीय अध्याय

प्रथम पाद- इस स्मृत्याधिकरण में सांख्य के द्वारा प्रतिपादित जगत् के कारण के रूप में प्रकृति को मानने पर कई अनुपपत्तियों को दिखाया गया है। इसी तरह से योगप्रत्युक्त्याधिकरण में योगशास्त्र के भी सिद्धान्त में अनेक अनुपपत्तियों का प्रदर्शन है किन्तु न विलक्षणत्वाधिकरण में सांख्य तथा योग में उत्थापित अनुपपत्तियों का तर्कपूर्ण समाधान हुआ है। इसी का प्रतिपादन मिताक्षराकार ने इस प्रकार किया है-[1] " यद्यपि तर्कस्य स्वातन्त्र्येण प्रामाण्यं नास्तीति वैदिकार्थपरिपन्थित्वं नास्ति, तथापि "श्रोतव्यो मन्तव्यः" (बृ0 4·5·6) इति तर्कस्याप्यादर्तव्यत्वश्रवणाद्बलवत्तर्कानुगृहीतप्रमाणविरोधे श्रुतेः प्रतिपादितप्रामाण्यानिर्वाहाद्यत्नेन ? तन्निराकरणमुपपद्यते।

इस अधिकरण में मिताक्षराकार ने यह सिद्ध किया है कि केवल तर्क से वेद आगम के बिना ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए आगम सत्कृत जो तर्क के द्वारा ज्ञान होता है उसी से ब्रह्म स्वरूप की प्रतिपत्ति होती है। शिष्टापरिग्रहाधिकरण में अन्य सभी वेद विरोधी सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है। भोक्त्रापत्त्यधिकरण में यह प्रतिपादित हुआ है कि जगत् के कारण के रूप में ब्रह्म को मानने पर जीव और ईश्वर का तथा जीव और जड़वर्ग का परस्पर विभाग सिद्ध नहीं होगा यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि इस विषय में लोक ही प्रमाण है। लोक में जैसा देखा जाता है वैसा ही वह हो सकता है।

1· मिताक्षरावृत्ति 2·1·4

आरम्भणाधिकरण में जहाँ ब्रह्म कारणवाद के विरुद्ध में उठायी गयी कई शंकाओं का समाधान हुआ है वहीं युक्तियों और दृष्टान्तों के द्वारा सत्कार्यवाद की स्थापना एवं ब्रह्म से जगत् को अनन्यता का प्रतिपादन हुआ है। इस विषय के विवेचन में सतकार्यवाद का प्रतिपादन करते हुए मिताक्षराकार ने [1] "यच्च यदात्मना यत्र न वर्तते, न तत् तत उत्पद्यते यथा सिकताभ्यस्तैलम्। तस्मात्प्रागिव पश्चादपि तदात्मनानन्यत्वं सिद्धम्।" अपने इस वक्तव्य के द्वारा सत्कार्यवाद की अनिवार्यता सिद्ध करते हुए [2] "तत्र इदं सदिति समानाधिकरणत्वात् कारणात्मनासत्त्वं तदनन्यत्वं च कार्यस्य सिद्धमिति" इस कथन से ब्रह्म से जगत् को अनन्य बताया है। इतरव्यपदेशाधिकरण में यह निरूपित हुआ है कि यदि ब्रह्म ही जीवरूप में उत्पन्न है यह कहते है तो अपना अहित करने का दोष उत्पन्न होता है। क्योंकि जीव ही यदि अपने को अज्ञानी अवस्था में ब्रह्म मानकर बैठा रहे तो अनेक प्रकार के दुःखों को भोगता हुआ उनसे छुटकारा पाने का यत्न ही न करें। और जन्म मरण के बन्धन में पड़ा रहे किन्तु ऐसा नहीं है। ब्रह्म जीव न होकर उससे अधिक है क्योंकि जीवात्मा को ब्रह्म से भिन्न बताया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् के "सतासोम्य तदा संपन्नो भवति" ‖छा0 6·8·1‖

- -

1· मिताक्षरावृत्ति 2·1·16

2· मिताक्षरावृत्ति 2·1·18

इस श्रुतिवाक्य से जीव और ब्रह्म का भेद स्पष्ट निर्दिष्ट है। अतः ब्रह्म को जीव से पृथक रूप में ही स्वीकार करना चाहिए। उपसंहारादर्शनाधिकरण में जहाँ ब्रह्म के द्वारा संकल्प मात्र से ही बिना साधन सामग्री के जगत की संरचना का कथन है जो मिताक्षराकार के [1] "ब्रह्म तु परिपूर्णशक्तिकं न किञ्चिदपेक्षते, "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्याधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रियाच। ।। " (श्वे० 6•8) इति श्रुतेः। तस्मादेकस्यापि ब्रह्मणो विचित्र शक्तियोगाद्विचित्त- कार्यजनकत्वं क्षीरादिवत्" इस कथन से भलीभाँति पुष्ट होता है वहीं कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरण में ब्रह्म कारणतावाद में सम्भावित अनेक प्रकार के दोषों को उठाया गया है। तथा उनका परिहार करते हुए श्रुति विरोध का निराकरण किया गया है। ब्रह्म को जब जगत् का उपादन कारण माना जाता है तब वह सावयव माना जा सकता है। ऐसा मानने पर [2] "निष्क्रियं, निष्फलं, शान्तं, निरवद्यं, निरञ्जनं" इस श्वेताश्वर उपनिषद् के और [3] "दिव्योह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" मुण्डकोपनिषद् के इन दोनों श्रुति वाक्यों से विरोध होता है। किन्तु वह विरोध उचित नहीं है। जगत् कारणता ब्रह्म की वेद से प्रतिपादित और निर्विकार रूपता भी उसी से प्रतिपादित है। और दोनों का स्वरूप भी वेद में विरोधरहित प्रतिपादित है। सर्वोपेताधिकरण में सांख्यमत में

1• मिताक्षरावृत्ति 2•1•24

2• श्वेताश्वर 6•19

3• मुण्डको 2•1•2

अनेक दोषों को दिखा करके वेदान्त मत की पुष्टि की गयी है। "प्रयोजनवत्त्वाधिकरण में परमेश्वर के द्वारा संकल्प से होने वाली कारण तथा प्रयोजन के बिना ही जगत् की सृष्टि उनकी लीला मात्र है, इसका प्रतिपादन हुआ है। वैषम्यनैर्घृण्याधिकरण में ब्रह्म में आरोपित विषमता और निर्दयता आदि दोषों को निराकरण करते हुए जीवों और उनके कर्मों की अनादि सत्ता का प्रतिपादन हुआ। तथा सर्वधर्मोपपत्त्याधिकरण में ब्रह्मकारणतावाद में सभी प्रकार के विरोधों का अभाव भी प्रतिपादित हुआ है।

द्वितीय पाद- रचनानुमत्त्याधिकरण में सांख्य के द्वारा प्रतिपादित प्रधान कारणतावाद का युक्ति पूर्वक खण्डन हुआ है। उस खण्डन में मिताक्षराकार ने अनेक युक्तियों का प्रदर्शन किया है। इनका एक प्रकृति के साम्यावस्था में आक्षेप का उदाहरण इस प्रकार है- [1] "किञ्च गुणानां साम्यवस्था प्रकृतिः। तत्र गुणानामङ्गाङ्गिभावव्यतिरेकेण न महदाद्युत्पत्तिः। स च न स्वतः, अनपेक्षस्वभावत्वाकोपात्। न परतः, पुरुषस्य औदासीन्यात्। अतो रचनानुपपत्तिरित्यर्थः"।

इसी तरह इन्होंने प्रकृति के सभी स्वरूप का खण्डन किया है। महद्दीर्घाधिकरण और परमाणुजगदाधिकरण में वैशेषिक के मतों का खण्डन हुआ है। क्योंकि वैशेषिक परमाणुओं से ही सृष्टि बताया है। परमाणुवाद में समवाय सम्बन्ध को स्वीकार किया गया है। क्योंकि कारण और कार्य की भाँति समवाय और समवायी में भी भिन्नता की समानता है ∴ इस

---

1. मिताक्षरावृत्ति 2·2·8

लिए उनमें अनवस्था दोष की प्राप्ति हो जाने पर परमाणुओं के संयोग से जगत् की उत्पत्ति नहीं हो पायेगी। इसके अलावा परमाणुओं में प्रवृत्ति या निवृत्ति का कर्म स्वाभाविक मानने पर सर्वदैव सृष्टि या प्रलयकीस्थिति बनी रहेगी इसलिए भी परमाणु कारणवाद असंगत है। इस तरह अनेक प्रकार के दोषों से युक्त होने के कारण सृष्टि का कारण परमाणु न होकर परब्रह्म ही है। इसी तरह समुदायाधिकरण और उपलब्ध्यधिकरण में बौद्धों के मत की असंगतियों को दिखाते हुए उनका खण्डन किया गया है। इसमें क्षणिक विज्ञानवादी के सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है। इसमें क्षणिक विज्ञानवादी के सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए उसके मत को पूर्णरूप से अग्राह्यीय सिद्ध करते हुए मिताक्षराकार ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है-

[1]"क्षणिकस्य कार्यसद्भावाभावेन उपादानत्वासंभवात्, क्षणिकस्य कारणत्वमनुपगच्छता अभावस्यैव कारणत्वमभ्युपगन्तव्यमिति आपाद्य, दूषणमुक्तम्। असतोऽभावाद्भावोत्पत्तिरिति वैनाशिकमतं न युक्तम्। कुतः? अदृष्टत्वात्। असतः शशविषाणादेः कारणत्वादर्शनादित्यर्थः।

इस प्रकार सौत्रान्तिक वैभाषिक और केवल विज्ञानवादी बौद्ध तीनों के मतों का पूर्णतया खण्डन किया है। एकस्मिन्न संभवाधिकरणम् में जैनमतों का पूर्णतया खण्डन किया गया है। एक सत्य पदार्थ में परस्पर विरुद्ध अनेक धर्म नहीं रह सकते हैं क्योंकि यह असम्भव है। जैन एक पदार्थ में सात प्रकार के विकल्प प्रत्येक पदार्थ में मानते है जो परस्पर विरुद्ध है

- -

1. मिताक्षरावृत्ति 2·2·26

किन्तु उनका यह मानना अनुभव के दृष्टि से खरा नहींउतरता। इसी प्रकार आत्मा के शरीर के बाराबर आकार वाला मानना भी अनुचित है। आत्मा में घटना और बढ़ना मानना भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि घटना और बढ़ना यह धर्म शरीरके हो सकते हैं आत्मा के नहीं। इस प्रकार इनके मतों का खण्डन करते हुए [1] मिताक्षराकार ने वेदान्त के मतको श्रेष्ठ बताया है। इसी प्रकार पाशुमताधिकरण में पाशुपत दर्शन के मतों का तथा उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण में पांचरात्र आगम में उठायी हुई अनुपपत्तियों का भी आंशिक रूप से निराकरण किया है। जिसका एक उदाहरण मिताक्षरा का इस प्रकार है-

[2] "भागवतानानां ग्रन्थेषु ज्ञानादीनामात्मगुणत्वं क्वचिदुक्तम् कचित ज्ञानादीनामात्मत्वमिति एको विप्रतिषेधः। वेदविप्रतिषेधाच्च। चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधिगतवानित्यादिवेदनिन्दादर्शनात्। तस्माच्छ्रुतिविरोधस्य स्वयमेवाङ्गीकृतत्वादिदं भागवतं मतमसङ्गतमिति"।

इस प्रकार अद्वैत दर्शन से विपरीत सिद्धान्त के प्रतिपादकसभी सिद्धान्तों का निराकरण किया गया है।

<u>तृतीय पाद</u> - वियदधिकरण, मातरिश्वाधिकरण और असंभवाधिकरण में ब्रह्म से आकाश और वायु की उत्पत्ति का प्रतिपादन करके ब्रह्म के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु उत्पत्तिशील है। तेजोऽधिकरण में तेज को वायु से उत्पन्न बताया गया है किन्तु छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्म से इसकी उत्पत्ति बतायी गयी है। जिसका मिताक्षराकार ने निराकरण किया है।

- -

1. मिताक्षरा वृत्ति - 2.2.35,36

2. मिताक्षरा वृत्ति - 2.2.45

तृतीय अध्याय

प्रथम पाद - तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरण में शरीर के बीजभूत सूक्ष्म तत्त्वों सहित जीव के देहान्तर में गमन में कारण तत्त्वों का निरूपण किया गया है। वस्तुत: जीव बारम्बार देहान्तरो को प्राप्त करता हुआ गर्भावस्था में स्थित होकर जब अनेक कष्टों का भोग करता है तो उसे इस संसार से वैराग्य की स्थिति प्राप्त होती है। यही वैराग्य की स्थिति उसके ब्रह्म ज्ञान में सहायिका होती है अर्थात् उस तरफ उसे उन्मुख करती है। इसका निरूपण करते हुए मिताक्षराकार ने इस प्रकार कहा है-

[1]"तत्र वैराग्य जननार्थ जीवस्य देहान्तरगतिर्विचार्यते। तत्र किं देहाद्देहान्तरं गच्छन् जीव: शरीरारम्भकै: भूतसूक्ष्मैरवेष्टितो गच्छति, वेष्टितो वेति संशये,अवेष्टित इत्याह। कुत: भूतसूक्ष्माणां सर्वत्र सुलभत्वेन सह नयनस्य अनुपयोगादिति। एवं प्राप्ते,अभिधीयते तदन्तरप्रतिपत्तौ, शरीरान्तरप्रतिपत्तौ, भूतसूक्ष्मै: संपरिष्वक्त एव जीवो रहति गच्छति। कुत:प्रश्ननिरूपणाभ्याम्। प्रश्नस्तावत्वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावाप: पुरुषवचसो भवन्ति(छा० 5·3·3)इति। निरूपणं प्रतिवचनम्।

छान्दोग्य उपनिषद् में इस विषय में पाँच आहुतियाँ बतायी गयी है। द्युलोकरूप अग्नि में श्रद्धा की पहली आहुति देने से सोम की उत्पत्ति होती है। मेघ रूप अग्नि में सोमरूप द्वितीय आहुति देने से वर्षा की उत्पत्ति होती है। पृथ्वीरूप अग्नि में वर्षारूप

- -

अधिकार

1· मिताक्षरावृत्ति 3·1·1

तृतीय आहुति देने से अन्न की उत्पत्ति होती है और पुरुषरूप अग्नि में अन्नरूप चौथी आहुति देने पर वीर्य की उत्पत्ति होती है। स्त्री रूप अग्नि में वीर्य रूप पाँचवी आहुति देने पर गर्भ की उत्पत्ति होती है। इसका प्रतिपादक छान्दोग्य उपनिषद् का श्रुतिवाक्य इस प्रकार है-

द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषित्सु पञ्चस्वग्निषु श्रद्धासोमवृष्टयन्नरेतोरूपाः पञ्चाहुतीर्दर्शयित्वा,"इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति"(छा05·9·1) इति। इस तरह यह जल पाँचवी आहुति में पुरुषसंज्ञक होता है और जन्म ग्रहण करने वाला मनुष्य जब तक आयु रहती है तब तक जीवित रहता है इनतीनों तत्त्वों का सम्मिश्रण शरीर में रहता है। इसलिए जल ग्रहण करने से सबका ग्रहण हो जाता है क्योंकि वीर्य में सभी तत्त्वों की अपेक्षा जल तत्त्व अधिक रहता है इसलिए उसे जल के नाम से वर्णन किया गया है। इस प्रकार जल का पुरुष रूप में निरूपण करते हुए अन्य उपस्थित विरोधों का निराकरण किया गया है। कृतात्ययाधिकरण में स्वर्ग गये हुए पुरुषों के पूर्ण्य कर्मों का क्षय होने पर अपने शेष कर्म संस्कारों से युक्त जीवात्मा का उसी मार्ग से अथवा उससे भिन्न किसी दूसरे प्रकार से लौटना श्रुतियों तथा स्मृतियों में बताया गया है। इस विषय में छान्दोग्य उपनिषद् की यह श्रुति विशेषरूप से उल्लेखनीय है-

"तद्य इह रमणीयचरणाः अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा अथ य इह कपूयचरणाः अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा"(छा05·10·7) इति।

मेघ बनते हैं। मेघ होकर वर्षा करते है और वर्षा से अन्य के रूप में होकरके पुन: गर्भ को प्राप्त करते है। यह बताया गया है। नातिचिराधिकरण और अन्याधिष्ठिताधिकरण में यह निरूपित किया गया है कि वे जीव अन्य आदि के रूप को प्राप्त करते है। तो उस अन्न को जो-जो पुरूष खाता है और उससे निर्मित वीर्य से तत् तत् गुणरूप वाले कर्म के अनुसार प्राणियों का जन्म होता है, यह बताया है। इसका निरूपण मिताक्षराकार ने इस प्रकार किया है-

"व्रीह्यादिभावानन्तरं रेतस्सिग्भाव अम्नायते-"यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेत: सिञ्चति तद्भूय एव भवति"(छा० 5·10·6) इति। यो यो ह्यनुशयिनाश्लिष्टमन्नमत्ति, स एव यो यो रेत: सिञ्चति, तद्भूय तत्समानाकार एव अनुशयी भवति, इति सिद्धान्त-रीत्या श्रुत्यर्थ:। यथा अस्मिन्वाक्ये अनुशयिनां व्रीह्यादिभावानन्तरं रेतस्सिग्योग एव रेतस्सिक्त्वं, न तु मुख्यम्, असंभवात्। एवं व्रीह्यादिभावोऽपि तत्संयोग एवेत्यर्थ:।

इस तरह जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं होता प्राणी अपने कर्म के अनुसार शरीरो को धारण करते रहते है और अनेक प्रकार के सुख दुख को भोगते हैं।

द्वितीय पाद - सन्ध्याधिकरण में यह बताया गया है कि स्वप्न में भी जाग्रत के ही समान सांसारिक पदार्थों की रचना होती है। कुछ लोग इस संदर्भ में पुरूष को कामनाओं का निर्माता भी मानते है। इनके मत में पुत्र आदि कामना के विषय है किन्तु पूर्णरूप से उसके रूप की अभिव्यक्ति न होने के कारण वह मायामात्र है। स्वप्न से भविष्य होने वाले शुभाशुभ परिणाम भी ज्ञात होते है ऐसा-

---

1· अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथैतमाकाश
आकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वा अभ्रं भवति
अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति ।

इस श्रुति में चरण शब्द कर्म संस्कारों का उपलक्षण है और पाप तथा पुण्य का बोधक है। अनिष्टादिकार्याधिकरण में पापी भी यमराज की आज्ञा से नर्क में यातना भोगते हैं। क्योंकि उनकी गति श्रुति में यहीं बतायी गयी है वे स्वर्ग लोग नहीं जाते। ये नर्क सात प्रकार के बताये गये है। उन यातना स्थानों में यमराज के ही अनुसार कार्य होते है। उसका कोई विरोध नहीं हो सकता। पुण्य कर्म करने वाले का उर्ध्वगमन सामान्य कर्म कर्त्ताओं के मध्यम में स्थिति और निन्दित कर्म करने वालों की अधोगति [1] स्मृतियों में भी बतायी गयी है इसी का प्रतिपादन [2] श्रुतियों में भी है। [3] कौषीतकि श्रुति में शुभ कर्म करने वालों को स्वर्गगमन का ही प्रतिपादन हुआ है। यमयातना छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित तीसरी गति से भिन्न एवं अधम चौथी गति है। तदाभाव्यापत्त्यधिकरण में स्वर्ग से लौटे हुए जीव क्रमशः आकाश रूप में होते है। आकाश से वायु रूप प्राप्त करके धूम होते है और धूम होकरके

1· उर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ।।
"गीता 14·18"

2· असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।।
"ईशावास्योपनिषद्-3"

3· चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति ।
(कौषीतकि उपनिषद् 1·2·)

"यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति ।
समृद्धि तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्ननिन्दर्शने ।।"[1]

इस श्रुति वाक्य के माध्यम से स्वप्न विषयक शास्त्र को जानने वाले कहते हैं, यह ज्ञात होता है। जीवात्मा में भी ईश्वर के समान गुण हैं किन्तु वे माया से ढके होने के कारण प्रगट नहीं होते हैं जब परब्रह्म का निरन्तर मनन चिन्तन आदि कार्य जीव के द्वारा होते हैं तब वे सभी गुण उसमें प्रगट हो जाते हैं और तभी उस परमात्मा के साक्षात्कार होने से जीव के बंधन छूट जाते हैं और वह परब्रह्म को प्राप्त करता है। उस जीव में परब्रह्म के गुणों का जो तिरोभाव है उसमें शरीर का सम्बन्ध भी बहुत बड़ा हेतु है जो बिना ज्ञान के निवृत्त नहीं होता। तदभावाधिकरण में यह बताया गया है कि निवृत्त सुषुप्ति अवस्था में उस स्वप्न दृश्य का अभाव हो जाता है उस समय जीवात्मा नाड़ियों में स्थित होता है। कुछ श्रुतियाँ जीव की स्थिति सुषुप्ति अवस्था में आत्मा में भी बताती है। इस विषय में प्राप्त श्रुतिवाक्य इस प्रकार है-

1. "तद्य त्रैतत्सुप्त: समस्तस्संप्रसन्न: स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति।"[2]
2. "ताभि: प्रत्यवसृप्य पुरीततिशेते"[3]
3. "य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते"[4]

- -

1. छान्दोग्य उपनिषद 5.2.9
2. छान्दोग्य उपनिषद 8.6.3
3. बृ0 2.1.19
4. बृ0 2.1.17

इसलिए इस जीवात्मा का सुषुप्ति अवस्था से जागना अत्यन्त आवश्यक है। कर्मानुस्मृतिशब्द-विध्यधिकरण में यह बताया गया है कि कर्म, अनुस्मृति, वेदप्रमाण और कर्म करने के आज्ञा इन सबकी सिद्धि तभी होगी जब वह जीव जागता है। मुग्धाधिकरण में जीव की मूर्च्छाकाल में अर्द्ध सुषुप्ति अवस्था मानी जा सकती है। यह बताया गया है। उभयलिंगाधिकरण में यह बताया गया है कि परब्रह्म किसी स्थान दोष से लिप्त नहीं होता। क्योंकि सभी वेद वाक्यों में उस ब्रह्म को सब प्रकार के दोषों से रहित निर्विशेष तथा समस्त दिव्य गुणों से सम्पन्न बताया गया है। वह परमात्मा, निर्गुण निर्विशेष रूप में तथा सगुण सविशेष रूप में प्रतिपादित है। इस विषय में उत्थित विरोधों का परिहार बताकर उन दोनों लक्षणों की मुख्यता बतायी गयी है तथा परमात्मा में भेद का अभाव बताया गया है। सगुण की औपाधिकता का निराकरण करते हुए प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त का रहस्य बताकर परमेश्वर में शरीर के वृद्धि ह्रास आदि दोषों का अभाव बताया गया है। प्रकृतैतावत्त्वाधिकरण में निषेध श्रुतियों द्वारा इयत्ता मात्र का प्रतिषेध बताते हुए ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण दोनों स्वरूपों को मन बुद्धि से परे बताकर अराधना से उसका प्रत्यक्ष होता है यह प्रपिपादित किया गया है। इस विषय को मिताक्षराकार[1] ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है-

"अपि चैनमात्मानं निष्प्रपञ्चमव्यक्तं योगिनः संराधने पश्यन्ति। संराधनं भक्ति श्रद्धापूर्वकं ध्यानम् । कुतः ? प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः। तथाहि श्रुतिः "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मा मैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।" (का० 4.1.) इति।"

---

1. मिताक्षरावृत्ति - 3.2.24

जीव और परमात्मा में अभेद वास्तविक है। जो उसमें भेद दिखायी पड़ता है वह अविद्या के कारण ही है। अविद्या से भिन्न अवस्था में भासमान जीव और ब्रह्म में अभेद ही मानना चाहिए क्योंकि जीव और ब्रह्म में बारम्बार वेदान्त वाक्यों के द्वारा अभेद बताया गया है। यह ब्रह्म अनन्त है और अनन्त परमात्मा से जीव तभी एकता को प्राप्त करता है जब अविद्या की निवृत्ति होती है। अतएव मुण्डकोपनिषद् में "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" तथा बृहदारण्यकोपनिषद् में "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" इत्यादि रूप में श्रुतियों का प्रमाण उपलब्ध होता है। जहाँ पर भेद और अभेद दोनों दिखायी पड़ता है वहाँ दोनों को वस्तु के रूप में स्वीकार करना चाहिए। अहि कुण्डल के समान । जिस प्रकार सर्प कभी कुण्डलाकार हो जाता है और कभी साधारण अवस्था में किन्तु दोनों अवस्थाओं में वह सर्प ही है। उसी प्रकार जीव और ब्रह्म में भेद के रूप में तथा अभेद के रूप में दोनों कथन वास्तविक बनते हैं। अर्थात् परब्रह्म जब कारण अवस्था में रहता है उस समय उसकी अपरा तथा परा ये दोनों शक्तियाँ सृष्टि के पूर्व उसमें अभिन्न रूप से विद्यमान रहती हैं। किन्तु प्रगट नहीं होती। जब वह ब्रह्म कार्यरूप में स्थित होता है तब दोनों शक्तियाँ भी भिन्न भिन्न रूपों में प्रगट हो जाती हैं। इस प्रकार जीव और ब्रह्म के परस्पर भेद अभेद को बताते हुए परब्रह्म में भेद और नानात्व का अभाव बताया गया है। पराधिकरण में जीव और ब्रह्म का भेद औपाधिक तथा अभेद वास्तविक निरूपित हुआ है। फलाधिकरण में ब्रह्म को ही कर्म के फल को देने वाला निरूपित किया गया है। इस विषय में मिताक्षर का यह विवेचन विशेषरूप से उल्लेखनीय है- "अत: ईश्वरादेव स्वर्गादिफलं भवितुमर्हति कुत:? उपपत्ते:। सर्वज्ञस्येश्वरस्य कर्मानुरूपफलदानसामर्थ्यमुपपद्यते, न त्वचेतनस्य आशुनाशिन:कर्मण

में समानता है। इसका निरूपण करते हुए सर्वभेदाधिकरण में सर्पस्वरूप परब्रह्म विद्या से दूसरी विद्या के सम्बन्ध से इन पूर्वोक्त सूत्रों में कहे हुए सभी प्रकरण, संज्ञा तथा शब्द इन तीनों हेतुओं का उपयोग बताया गया है। आनन्दद्यधिकरण में ब्रह्म के आनन्द आदि धर्मों का ही सर्वत्र आधाहार करना उचित है। प्रियशिरस्त्व आदि रूपकगत धर्मों का नहीं, इसको बताया गया है। अध्यानाधिकरण में अन्य किसी प्रकार का प्रयोजन न होने के कारण परमेश्वर का सर्वथा चिन्तन करना चाहिए। क्योंकि श्रुतियों में आत्मा शब्द से परब्रह्म का ही ग्रहण होता है यह बताया गया है और आनन्दमयत्व यह गुण ब्रह्म का ही है। आत्म गृहीत्याधिकरण में यह बताया गया है कि ऐतरेय उपनिषद् के "आत्मा वा इदं एक एवाग्रेऽसीत्" इत्यादि वाक्य में आत्म शब्द से जैसे परब्रह्म का ग्रहण होता है वैसे ही तैत्तरीय उपनिषद् के "तस्माद् वा एतस्मात्मन आकाश: सम्भूत:" इस वाक्य में भी आत्म शब्द से परब्रह्म का ही ग्रहण उचित है। क्योंकि उन वाक्यों में आत्म शब्द से आनन्दयम ब्रह्मअर्थ का ही निर्णय किया गया है। कार्याख्यानाधिकरण में यह बताया गया है कि ब्रह्म का कार्य उन श्रुति स्थलों पर बताया गया है। इसलिए अन्न रस मय पुरुष ब्रह्म का वाचक नहीं हो सकता। समानाधिकरण और सम्बन्धाधिकरण में एक शाखा में कही हुई विद्या की एकता को बताया गया है और दोनों स्थलों के उपास्य में अभेद है इसका प्रतिपादन हुआ है किन्तु उसके अनुसार दूसरे स्थलों में भी क्या एकता का प्रतिपादन एक ही विद्या के सम्बन्ध से किया जा सकता है। मिताक्षराकार[1] इसको स्पष्ट करते हुए लिखते है कि "सत्यस्य ब्रह्मणो

---

1. मिताक्षरा वृत्ति 3·3·20

इत्यर्थः। इस प्रकार कर्मों का फल ईश्वर से ही नियन्त्रित होता है, यही स्वीकार करना शास्त्रसम्मत माना जा सकता है।

तृतीय पाद - सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरण में सभी उपनिषदोंमें प्रतिपादित अध्यात्म विद्या का वर्णन अभिन्न है यह प्रतिपादित हुआ है। क्योंकि प्रेरणावाक्यों मेंकोई भेद नहीं होता भले ही शाखाओं का भेद दिखायी पड़ रहा हो। जो इनमें भेद की प्रतीति है वह केवल सामान्य ही है क्योंकि एक विद्या में भी इस प्रकार वर्णन के भेद का होना अनुचित नहीं माना जाता । यह शिरोव्रत का पालन अध्ययन का अंग है। आर्थवण शाखा वालों के परम्परागत शिष्टाचार में अध्ययन के अंग रूप से ही उसका विधान है। उस व्रत के पालक का ही ब्रह्म विद्या अध्ययन में अधिकार होने के कारण सब होम् के समान इस यह शिरोव्रत वाला नियम आर्थवण शाखा वालों के लिए ही हैं। इस बात को "सर्ववेदायत पदमामनन्ति" इस कठोपनिषद् के द्वारा प्रस्तुत करते है। उपसंहाराधिकरण में एक प्रकार की विद्या में प्रयोजन का भेद न रहने पर एक जगह कहे हुए गुणों का दूसरी जगहउपसंहार कर लेना विधिशेष के समान उचित है। अन्यथात्वाधिकरण में यह बताया गया है कि श्रुतियों में कथित कुछ वाक्यों से दोनों की भिन्नता प्रतीत होती है जिससे एकता सिद्ध नहीं होती फिर भी विधि और फल आदि में भेद न होने के कारण दोनों विद्या यों में समानता मानी जाती है। न तो प्रकरण भेद से और न ही संज्ञा भेद से उन दोनों में विषमता होने पर भी वस्तुतः भेद नहीं कहा जा सकता। व्याप्त्यधिकरण में ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है इसलिए भी ब्रह्म विद्याय

ऽपि दैवतमध्यात्मं च स्थानद्वयमभिधाय, व्याहृतिशरीरत्वं च संपाद्य उपनिषद्द्वयमाम्नातम्-
"तस्योपनिषदहरिति" इत्याधिदैवतम्, तस्योपनिषदहमिति" इत्यध्यात्मम्। तदुपनिषद्वयं
किमक्ष्यादित्यस्थानद्वयेऽप्यनुसन्धेयं, उत व्यवस्थयेति संशये, यथात्रैव शाण्डिल्यविद्यायां विभा-
गेनाप्यधीतायां गुणापसंहार:, एवमन्यत्रापि, सत्यविद्यायामपि अहरिति नामद्वयोपसंहार:।
कुत: ? सम्बन्धात् एकविद्याभि संबन्धात्।

किन्तु दोनों की एकता मानना उचित नहीं है क्योंकि दोनों के नाम तथा स्थान में भेद बताया गया है। इसको स्पष्ट करते हुए[1] छान्दोग्य उपनिषद् में प्रयुक्त यह श्रुति वाक्य दोनों की भिन्नता का प्रतिपादन करता है-"तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ यन्नाम तन्नाम"। अर्थात जहाँ स्थान और नाम का भेद हो वहाँ एक स्थल में कहे हुए गुण दूसरे स्थलों में गृहीत नहीं होते। अत: यहाँ भी एकता नहीं मानी जा सकती। संभृत्यधिकरण में वीर संभृति आदि ब्रह्म की विभूतिया उपास्य के रूप में सुनी जाती है और वहीं पर उपनिषद् में शाण्डिल्य विद्या आदि ब्रह्म विद्यायें पढ़ी गयी है उन ब्रह्म विद्याओं में वीर संभृति आदि का उपसंहार करना चाहिए कि नहीं इसका उपसंहार नहीं करना चाहिए यह बताया गया है। इसका प्रतिपाद मिताक्षराकार[2] ने निम्नवत किया है-

---

1. छान्दोग्य 1·7·5
2. मिताक्षरावृत्ति 3·3·23

अत्र वीर्यसंभृत्यादय: ब्रह्मणो विभूतय: उपास्यत्वेन श्रूयन्ते। तत्रैवोपनिषदि शाण्डिल्यविद्याप्रभृतयो ब्रह्मविद्या: पठ्यन्ते तासु ब्रह्मविद्यासु ता: वीर्यसंभृत्यादय: उपसंहार्या:, न वेति संशये, ब्रह्मसम्बन्धाविशेषादुपसंहारे प्राप्ते, उच्यते- ।। संभृतिद्युव्याप्त्यपि चात:। संभृतिश्च द्युव्याप्तिश्च तयोस्समाहार: संभृतिद्युव्याप्ति। चकाराद्दीर्थपरिग्रह: । संभृत्यादयोऽपि नोपसंहार्या:।

पुरुष विद्याधिकरण में यह बताया गया है कि पुरुष विद्या में जो गुण बताये गये हैं वे गुण अन्य पुरुषों के नहीं हो सकते क्योंकि वेद में उनके ऐसे गुण कहीं नहीं प्रतिपादित हुए। वेधाद्यधिकरण में यह बताया गया है कि अथर्ववेदियों के और अन्य लोगों के उपनिषद् के आरम्भ में 'सर्वं प्रवृध्य हृदयं प्रवृध्य' इत्यादि मन्त्र जो कहे गये है इनका भी अध्याहार अन्य विद्याओं में नहीं करना चाहिए। क्योंकि प्रयोजन का वहाँ भेद है। हान्यधिकरण में यह बताया गया है कि जहाँ केवल दु:ख शोक पुण्य पाप आदि के नाश का ही वर्णन है ऐसा श्रुति में भी लाभ आदि के नाश का ही वर्णन है ऐसी श्रुति में भी लाभ रूप फल का अध्याहार कर लेना चाहिए क्योंकि वह वाक्य का शेष भाग है। यह बात उषा, छन्द, स्तुति और उपगान के समान समझनी चाहिए। इस वार्ता कोपूर्व मीमांसा में बताया गया है। साम्परायाधिकरण में यह स्पष्ट किया गया है कि ज्ञानी के लिए परलोक में भोग के द्वारा पार करने योग्य कोई कर्मफल शेष नहीं रहता। उसके पुण्य तथा पापकर्म दोनों क्षीण हो जाते है क्योंकि यही बात अन्य शाखा वाले कहते है। इस विषय में मुण्डकोपनिषद्[1] की यह श्रुति द्रष्टव्य है-

- -

1. मुण्डकोपनिषद् -3·1·3

"तदा विद्वान पुण्यपापे विधूय निरञ्जन: परमं साम्यमुपैति।" इसी का प्रतिपादन स्पष्ट शब्दों में मिताक्षराकार[1] ने किया है-

"विद्यासामर्थ्याद्विद्यानन्तरमेव सुकृतदुष्कृतदायक्षयकत्वात्। अक्षीणपापस्यार्चिरादिमार्गगमनासम्भवात्। पूर्वभावी त्याग: कौषीतकिभि: (कौ०स० 5·1·2) पश्चात पठित:। तथा ह्यन्ये। यथा न्याय उक्त:, तथा ह्यन्ये शाखिन: ताण्डिनश्शाख्यायनिनश्च प्रागवस्थायामेव सुकृतदुष्कृतहानमामनन्ति-"अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्"(छा०8·13·1)इति, "तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृद: द्विषन्त: पापकृत्याम्"इति च।

गतेरर्थवत्त्वाधिकरण में गतिबोधक श्रुति की सार्थकता दोनों प्रकार से ब्रह्म की प्राप्ति मानने पर ही होगी। क्योंकि अन्य प्रकार से स्वीकार करने पर श्रुतियों में विरोध होगा यह बताया गया है। और उस देवायान मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक में जाने के उपयुक्त सूक्ष्म शरीर आदि उपकरणों की प्राप्ति का कथन होने से उनके लिए ब्रह्मलोक में जाने का कथन लोक के अनुसार युक्तिसंगत बताया गया है। अनियमाधिकरण तथा यावदधिकाराधिकरण में यह बताया गया है कि ब्रह्मलोक जाने वाले सभी साधक देवयान मार्ग से ही जाते हैं यह श्रुति एवं स्मृति दोनों से सिद्ध होता है इनमें कोई विरोध नहीं है किन्तु जो अधिकारप्राप्त कारक पुरुष है उनके अधिकार की जब तक समाप्ति नहीं होती तब तक अपने इच्छानुसार उनकी स्थिति होती है। अक्षरध्याधिकरण, में इयदधिकरण, अन्तरत्वाधिकरण सत्याद्यधिकरण व्यतिहाराधिकरण, कामाद्यधिकरण तथा आदराधि में अक्षर ब्रह्म के लक्षणों

1· मिताक्षरावृत्ति 3·3·27

सर्वत्र ब्रह्म के वर्णन में अध्याहार का आवश्यक निरूपण करते हुए मुण्डक, कठ और श्वेताश्वर उपनिषद् आदि में जीव और ईश्वर को एक साथ हृदय स्थित बताने वाली विद्याओं की एकता का प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्म जीवात्मा का भी अन्तर्यामी आत्मा है। इस सिद्धान्त में आगत विरोधों का परिहार करते हुए जीव और ब्रह्म के भेद की औपाधिकता का निराकरण करके विरोध का परिहार किया है। तन्निर्धारणनियमाधिकरण में भोगों के भोगने का निश्चित नियम नहीं है क्योंकि यह बात इस प्रकरण में बार-बार यदि शब्द के प्रयोग से देखी गयी है। इसके अलावा दूसरा यह भी कारण है कि कामोपभोग से भिन्न संकल्प वाले के लिए जन्म मरण से छूटना ही फल है इसका प्रतिपादन करके प्रदानाधिकरण में अध्यात्म विद्या को जन्म मरण बन्धन की मुक्ति में वरदान बताया गया है। लिङ्ग-भूयस्त्वाधिकरण में जन्म मरण रूप संसार से सदा के लिए मुक्त होकर परब्रह्म को प्राप्त हो जाना रूप लक्षणों के विषय में बताते हुए बन्धनों से मुक्त होना ही विद्या का मुख्य फल है यह बताया गया है। कर्म से मुक्ति का प्रतिपादन करने वाले पूर्वपक्ष को उठाकर और उसका निराकरण करके ब्रह्म विद्या से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। इसका प्रतिपादन करके साधकों का जैसा भाव होता है उसी के अनुसार उन्हें विद्या के आनुसाङ्गिक फल प्राप्त होते है यह बताया गया है। इस विषय में मिताक्षराकार[1] का यह प्रतिपादन विशेष रूप से उल्लेखनीय है-

---

1. मिताक्षरा वृत्ति 3.3.52

"विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः। न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः।" इत्येनेन श्लोकेन केवलं कर्म निन्दनविद्यां च प्रशंसन्निदं गमयति। तथा पुरस्तादपि विद्याप्रधानत्वमेव लक्ष्यते,"सोऽमृतो भवति" इति विद्याफलस्यैवोपसंहारात्,न कर्मप्रधानता। तत्सामान्यादिहापि तथात्वम्। अग्निप्रकरणे मनश्चिदादीनां अनुबन्धः आम्नानन्तु अस्यां विद्यायां संपादनीयानां अग्न्यवयवानां भूयस्त्वात्, न तदङ्गत्वात्। "तदनुबन्ध"इति पाठे अग्निप्रकरणं तदोक्तम्। तस्मान्मनश्चिदादीनां केवल विद्यात्मकत्वमिति।

इसमें इन्होंने ब्रह्मविद्या को ही सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया है। शरीरव्यतिरेकाधिकरण मे शरीर आत्मवादियों के मत को उठाकर उसका निराकरण किया गया है वहीं अङ्गावबद्धाधिकरण में यह बताया गया है कि यज्ञ के कर्माङ्गाश्रय विद्याये प्रत्येक शाखा में कही गयी हैं किन्तु उनके अध्ययन का अधिकार न केवल शाखाविशेष का था और न केवल शाखाविशेष का अध्ययन करने वाले को अपितु प्रत्येक शाखा अध्यायियों का है। इसमें विरोध है ही नहीं। भूमज्यायस्त्वाधिकरण, शब्दादिभेदाधिकरण और विकल्पाधिकरण यथा काम्याधिकरण में यह प्रतिपादित हुआ है कि एक-एक अंग की अपेक्षा सब अंगों से पूर्ण उपासना करना श्रेष्ठ है। शब्दादि भेद से विद्याओं में भिन्नता है।फल के एक होने से साधक की इच्छा के अनुसार उनके त्याग में विकल्प की व्यवस्था है किन्तु भिन्न-भिन्न उपासनायों के अनुष्ठान में कामना के अनुसार एक से अधिक उपासनायों का समुच्चय भी हो सकता हैं। यथाश्रयभावाधिकरण में यह बताया गया है कि प्रतीक दो प्रकार के होते हैं लौकिक और वैदिक। वैदिकों में समुच्चय यथा काम्य की आशंका में यथाश्रय भाव का ग्रहण करना चाहि इसका प्रतिपादन करते हुए यज्ञाङ्ग सम्बन्धी उपासनायों में समुच्चय तथा समाहार का खण्ड

चतुर्थपाद– पुरुषार्थाधिकरण में ज्ञान से परम पुरुषार्थ के सिद्धि का प्रतिपादन करते हुए मिताक्षराकार ने "तरति शोकमात्मवित्" [छा07•1•3] इत्यादि शब्दात्केवलाया एव विद्याया मोक्ष साधनत्वबोधनादित्यर्थः। इस कथन के द्वारा मोक्ष साधन में ज्ञान को ही श्रेष्ठ माना है। जैमिनी के कर्म सिद्धान्त का खण्डन करके विद्या को कर्म का अंग न मानकर ब्रह्म प्राप्ति का स्वतंत्र साधन स्वीकार किया है। परामर्शाधिकरण में जैमिनी के कर्म सिद्धान्त का खण्डन करते हुए सन्यास आश्रम के विषय से सम्बन्धित सम्पूर्ण वस्तु को उपस्थापित किया गया है। स्तुतिमात्राधिकरण में जहाँ अपूर्ण फलदायिनी उद्गीत उपासनाओं का विधान बताया गया है वहीं पारिपल्वार्थाधिकरण में उपनिषद् वर्णित किया गया है। अग्निन्धनाद्यधिकरण में ब्रह्म विद्यारूप यज्ञ में अग्नि ईंधन आदि की अपेक्षा का अभाव बताया है तथा सर्वापेक्षाधिकरण में विद्या की प्राप्ति के लिए वर्णाश्रम उचित कर्मों का अनुष्ठान अपेक्षित है और शम दम आदि की अनिवार्यता है। इनके बिना ब्रह्मविद्या की प्राप्ति सम्भव नहीं है। इस विषय में मिताक्षरा का यह प्रतिपादन अवश्यमेव उल्लेखनीय है–

यद्यपि यज्ञादिकमनुष्ठितं, तथापि शमदमाद्युपेतो विद्यासाधकस्यात्। कुतः ? तदङ्गतया, विद्याङ्गतया, तद्विधेः, शमदमादिविधेः, तेषां शमादीनां अवश्यानुष्ठेयत्वात्। "तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतः तितिक्षुः समाहितः श्रद्धावितो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत् [बृ0 4•4•23] इति । विद्यासाधनत्वेन शमादीनां विधानादन्तरङ्गत्वम् । यज्ञादिवाक्ये कल्प्यो विधिः, अत्र तु पश्येदिति स्पष्टो विधिः इति विशेषद्योतनार्थस्तुशब्दः।

सर्वान्नानुमत्यधिकरण में प्राण संकट के उपस्थित होने पर अन्य समय में आहार शुद्ध विषयक सदाचार का त्याग नहीं करना चाहिए यह बताया गया है। अर्थात् दूषित अन्न का भक्षण तभी करें जब उसके बिना प्राणों की रक्षा सम्भव न हो। सामान्य अवस्था में सात्विक आहार का ही सेवन करें। आश्रमकर्माधिकरण में यह बताया गया है कि ब्रह्म ज्ञानी लोक संग्रह के लिए आश्रम से सम्बन्धित कर्मों का अनुष्ठान सर्वदैव करें। क्योंकि इसका प्रतिपादन श्रुति एवं स्मृति दोनों करते हैं। विधुराधिकरण में आश्रम में न रहने वाले विधुरादि का भी अधिकार ब्रह्मविद्या में स्वीकार किया गया है। क्योंकि अनाश्रमित्व अवस्था में भी रैक्व आदि मुनि गुरुकुल से लौटकर विवाह के पूर्व संवर्ग आदि विद्यायों का सफल अध्ययन किया था। वैसे विधुर आदि के लिए जप, उपवास, देवता, अराधन रूप, कर्मों के अनुष्ठान की व्यवस्था विशेष रूप से आवश्यक है यह बताया गया है। तद्भूताधिकरण बहिरधिकरण में वानप्रस्थ सन्यास आदि उपे आश्रमोंसेवापस लौटने का निषेध बताया गया है क्योंकि उन आश्रमों से लौटने वाला व्यक्ति का पतन हो जाता है और ब्रह्म विद्या का अधिकारी नहीं होता। इसका प्रतिपादन किया गया है । स्वाम्यधिकरण में यह प्रतिपादित हुआ है कि उद्गीत आदि में की जाने वाली उपासना का कर्त्ता तो ऋत्विक है किन्तु उसके फल में यजमान का भी अधिकार है। यह विषय मिताक्षरा में इस तरह प्रतिपादित हुआ है-

[1] "हि यस्मातस्मै तद्भाय कर्मणे, सर्वं कर्म कर्तुं ऋत्विक् परिक्रीयते। न च ध्यातुरेव फलमिति नियम:। तादृगस्य कर्मण: ऋत्विग्द्वारा यजमानस्य प्रयोजनस्य प्रयोजककर्तृत्वा-क्षीरदोहनादिफलवदुपपत्ति:।"

1• मिताक्षरा वृत्ति 3•4•45

सहकार्यन्तरविध्यधिकरण तथा अनाविष्काराधिकरण में यह बताया गया है कि सन्यास एवं गृहस्थ आदि सभी आश्रमों में ब्रह्मविद्या का अधिकार है। ऐहिकाधिकरण तथा मुक्तिफलानियमाधिकरण में यह प्रतिपादित हुआ कि ब्रह्म ज्ञान का मुक्तरूप फल इस जन्म में मिलता है या दूसरे जन्म में और इस लोक में मिलता है या परलोक में इसका कोई नियम नहीं है। इस जन्म में भी प्राप्त हो सकता है और दूसरे जन्म में भी प्राप्त हो सकता है। इसका प्रतिपादन मिताक्षराकार[1] के द्वारा तार्किक रीति से इस प्रकार हुआ है-

"साधनानुष्ठाने-दृष्टार्थतया साध्यावश्यम्भावादिहैव ज्ञानमुत्पद्यते इति प्राप्ते, अभिधीयते- अप्रस्तुतप्रतिबन्धे, प्रस्तुतस्यश्रवणादिसाधनस्य कर्मविशेष प्रतिबन्धाभावे, ऐहिकमिहैव जन्मनि ज्ञानमुत्पद्यते। विचित्रविपाकत्वात्कर्मणाम्। बलवता केनापि कर्मणा प्रतिबन्धे सति, जन्मान्तरेऽपि ज्ञानमुत्पद्यते। कुतः ? तद्दर्शनात्। "गर्भस्थ एव वामदेवः प्रतिबुबुधे" इति गर्भस्थस्य जन्मान्तरभवादिना ज्ञानदर्शनात्।

इस तरह मुक्तिरूप फल में ज्ञान की अनिवार्यता है। और उसका फल इस जन्म में मिलता है। विघ्न आदि विशेष के रहने से जन्मान्तर में प्राप्ति देखी जाती है।

चतुर्थ अध्याय

प्रथम पाद- आवृत्त्यधिकरण में यह बताया गया है कि ब्रह्म विद्या का उपदेश करने के पश्चात् उसके अभ्यास करने की निरन्तर आवश्यकता होती है। क्योंकि अभ्यास से ही विद्या वीर्यवती होती है इसलिए बृहदारण्यकोपनिषद् में "श्रोतव्यो: मन्तव्यो: निदिध्या

---

1. मिताक्षरावृत्ति -3.4.51

सतव्य:" इस कथन से श्रुत विद्या का मनन एवं अभ्यास की अनिवार्यता बतायी गई है। आत्म त्वोपासनाधिकरण में आत्मभाव से परब्रह्म के चिन्तन को बताया गया है। इस विषय में मिताक्षराकार[1] ने लिखा है कि -

"आत्मेत्येव,अहमित्येव परमात्मा प्रत्येतव्य इत्यर्थ:। यत: "अहं "ब्रह्मास्मि" [बृ 1·4·10] इत्यात्मत्वेनैव परमात्मानं तत्वविद उपगच्छन्ति। तत्त्वमसि[छा0 6·8·7] इत्यादीनि च वाक्यानि तथैव ग्राहयन्ति च । न च विरोध:, जीवस्य सुखदु:खादि विरुद्ध धर्माध्यासस्याविद्याकल्पितत्वेन वस्तुतोऽवहतपाप्मत्वादेरविरोधात्।

प्रतीकाधिकरण में प्रतीक में आत्मभावना का निषेध करके ब्रह्मदृष्टयाधिकरण में ब्रह्मभावना का विधान बताया गया है। आदित्यादिमत्यधिकरण में उद्गीत आदि में आदित्य आदि की भावना करना चाहिए क्योंकि आदित्य की दृष्टि से संस्कारयुक्त कर्म बलवान होता है। यह बतायागया है। आसीनाधिकरण में जहाँ आसन में स्थित होकर के उपासना की पद्धित्त बतायी गयी है वहीं एकाग्रताधिकरण में चित्त की एकाग्रता को उपासना के लिए उत्तम बताया गया है। और आप्रायणाधिकरण में इस उपासना का अनुष्ठान मरण पर्यन्त करना चाहिए' यह प्रतिपादित किया गया है ।तदधिगमाधिकरण तथा इतरासंश्लेषाधिकरण में जहाँ ब्रह्म साक्षात्कार के पश्चात् ज्ञानी का भूत एवं भविष्य के शुभ तथा अशुभ कर्मों से सम्बन्ध नहीं होता। इसका प्रतिपादन करते हुए अपने सिद्धान्त के पुष्टि में "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" मुण्डकोपनिषद्[2] के इस वाक्य को

- -

1· मिताक्षरा सू0 4·1·3

उधृत करते हैं वहीं अनारब्ध कार्याधिकरण में शरीर के कारण रूप प्रारब्धकर्मों का भोग समाप्त नहीं हो जाता तब तक ब्रह्म ज्ञान के पश्चात् भी शरीर की स्थिति बनी रहती है। यह बताया गया है। अग्नि होत्राद्यधिकरण में ज्ञानी के लिए अग्निहोत्र आदि सभी वेद विहित कर्मों का लोक संग्रह के लिए विधान अवश्यमेव करना चाहिए क्योंकि ये नित्य कर्म हैं इनका त्याग करना उचित नहीं है। विद्यासंयुक्ताकर्मवीर्यकत्वाधिकरण में कर्माङ्ग उपासना का ही कर्म के साथ समुच्चय को बताते हुए यह कहा है कि नित्यकर्म दो प्रकार के होते हैं। अङ्गा बद्धोपासनायुक्त तथा उससे रहित। इन दोनों में दोनों की स्थिति हो सकती है। इसकी परिपुष्टि छान्दोग्य उपनिषद् के "यदेवविद्यया"[1] इस वाक्य में विद्यारहित का भी सामर्थ्य बताया गया है। इतरक्षपणाधिकरण में यह बताया गया है कि ब्रह्म विद्या का ज्ञान करके भी ब्रह्मज्ञानी परमात्मा को तभी प्राप्त होता है जब संचित और क्रियमाण के अतिरिक्त प्रारब्ध रूप शुभ अशुभ कर्मों की भोग के द्वारा समाप्ति हो जाय। क्योंकि शरीर रूप बन्धन की स्थिति शरीर के रहते तक रहती है और प्रारब्ध कर्म से होता है। प्रारब्ध कर्मों के समाप्त होने पर शरीर की भी समाप्ति हो जाती है और तब वह ज्ञानी परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

<u>द्वितीय पाद-</u> वागाधिकरण में वाणी मन में स्थित हो जाती है। प्रत्यक्ष देखने से और[2] वेद वाणी से भी यह बात सिद्ध होती है। इसको मिताक्षराकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया

---

1. छान्दोग्य - 1.1.10
2. मिताक्षरावृत्ति 3.2.1

तत्र मनसि वाचः किं स्वरूपेणैव लयः, उत वाग्वृत्तेरिति संशये, वागिति श्रवणात्स्वरूपस्य प्राप्ते, ब्रूमः - वाग्वृत्तिरेवमनसि लीयते। कुतः? दर्शनात्। मनोवृत्तौ स्थितायां वाग्वृत्तिलयो दृश्यते, न तु वागिन्द्रियस्य, अतो न्द्रियत्वात्।

जिस प्रकार मन में वाणी स्थित है वैसे ही इन्द्रियाँ भी मन में स्थित है। यह बताया गया है। मनोऽधिकरण में तथा अध्यक्षाधिकरण में मन को प्राण में तथा प्राण को जीवात्मा में स्थित बतायी गयी हैं और जीवात्मा को सभी सूक्ष्म भूतों में स्थित होती है इसको निरूपित किया गया है। आसृत्युपक्रमाधिकरण में यह बताया है कि देवयान मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक में जाने का क्रम आरम्भ होने तक ज्ञानी और अज्ञान दोनों की गति समान ही है। क्योंकि सूक्ष्म शरीर को सुरक्षित रखकर ही ब्रह्मलोक में अमृतत्व लाभ करना ब्रह्म विद्या का फल बताया गया है। क्योंकि, सगुणोपासक की ब्रह्मलोक की प्राप्ति देवयान मार्ग के द्वारा गमन के बिना सम्भव नहीं होती। निर्गुणोपासकों के लिए अविद्या नाश पूर्वक अमृतत्व की प्राप्ति बतायी गयी है। संसारव्यपदेशाधिकरण में बताया गया है कि साधारण जीवों का मरने के बाद बार-बार जन्म ग्रहण करने से यही सिद्ध होता है कि उनका सूक्ष्म शरीर मुक्तावस्था प्राप्त करने तक रहता है इसलिए नूतन स्थूल शरीर मुक्तावस्था प्राप्त करने तक रहता है इसलिए नूतन स्थूल शरीर प्राप्त होने के पहले- पहले उनका परमात्मा में स्थित रहना प्रलयकाल के ही समान है। जैसे प्रलयकाल में सभी जीव अपने कर्म के सम्बन्ध को लेकर के परमात्मा में स्थित रहते हैं। और उसके समाप्ति पर पुनः कर्मजन्य शरीरों को प्राप्तकरते हैं। यही अवस्था मुक्त होने के पहले सभी जीवों की रहती है। प्रतिषेधाधि-

को प्राप्त हो जाते हैं यह प्रतिपादित है। कलाप्रलयाधिकरण और कलाऽविभागाधिकरण में यह बताया गया है कि ये प्राण,अन्त:करण, पाँचों सूक्ष्मभूत और सभी इन्द्रियाँ पर ब्रह्म में विलीन हो जाती, उनका कोई भी विभाग प्राप्त नहीं होता अर्थात उनका लय निरवशेष होता है। तदोकोऽधिकरण में यह बताया गया है कि सूक्ष्म शरीर में स्थित जीव किस प्रकार ब्रह्मलोक में जाने के लिए सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा शरीर से निकलता है। इसके विषय में [1] बृहदारण्यक उपनिषद् का यह श्रुतिवाक्य विशेषत: उल्लेखनीय है-"तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामयति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीदेशेभ्य:।"

इस तरह से प्राणों का सैकड़ों नाड़ी वाले सुषुम्ना नाड़ी से उस जीव का निकलना प्रतिपादित हुआ है। रश्म्यानुसार्यधिकरण में जीवात्मा शरीर से निकलकर आदित्यमण्डल को प्राप्त करता है यह बताया गया हैं और उसकी प्राप्ति दिन और रात्रि दोनों में ही होती है। अर्थात जीवात्मा के द्वारा दिन में तथा रात्रि में कभी भी शरीर को छोड़ने पर सर्वप्रथम सामान्यता सूर्य रश्मियों में भो होता है। दक्षिणानाधिकरण में रात्रि और दक्षिणायन अधिकरण में रात्रि और दक्षिणायन काल में भी सूर्य रश्मियों से उसका सम्बन्ध निर्बाध बताया गया है। इसका प्रतिपादन मिताक्षराकार[2] ने इस प्रकार किया है-

"दक्षिणायने मृतस्य उपासकस्य ब्रह्मलोकप्राप्तिरस्ति, न वेति संशये,उत्तरायणस्य ब्रह्मलोकमार्गत्वश्रुते:, भीष्मस्य उत्तरायणप्रतीक्षादर्शनाच्च, नास्तीति प्राप्तवुच्यते-अत एव विद्याफलस्य नियतत्वादेव, दक्षिणायनेऽपि मृतस्य ब्रह्मलोप्राप्तिर्भवत्येव, उत्तरायणशब्दस्याति वाहिकदेवतापरतया वक्ष्यमाणत्वाद्भीष्मस्य स्वच्छन्दमृत्युताप्रकटनार्थं कालप्रतीक्षोपपत्तेरिति।" योगी के लिए विशेष नियम है। जिसका प्रतिपादन पूर्णरूपेण गीता में किया गया है। इसलिए इस अधिकरण में उसका स्वरूप व्याख्यात नहीं हुआ।

तृतीयपाद- अर्चिराद्यधिकरण में यह बताया गया है कि ब्रह्मलोक प्राप्ति के अनेक मार्ग सुनने में आते हैं, यथा अर्चि मार्ग, देवयान मार्ग, वायुमार्ग इत्यादि। उसमें सभी उपासक अर्चि इस एक मार्ग से ही ब्रह्म लोक को जाते हैं। क्योंकि उसी मार्ग का सभी विद्याओं में मार्ग के रूप में प्रसिद्धि है। वाय्वधिकरण में सम्वत्सर के ऊपर और सूर्यलोक से नीचे वायु लोक स्थित है तथा वरुणाधिकरण विद्युत से ऊपर वरुणलोक स्थित है तथा वरुणाधिकरण विद्युत से ऊपर वरुणलोक स्थित है इसको निरूपित किया गया है। अतिवाहिकाधिकरण में अर्चि, दिन, पक्ष, मास, अयन आदि अतिवाहिक अर्थात् साधक को एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुँचा देने वाले उन-उन लोकों के अभिमानी पुरुष है। इसका प्रतिपादन किया गया है। कार्याधिकरण में यह बताया गया है कि आचार्य वादरि के मत में ब्रह्म लोक में कार्यब्रह्म की प्राप्ति होती है किन्तु जैमिनी का मत है कि परब्रह्म की ही प्राप्ति होती है। अप्रतिकालंबनाधिकरण में यह प्रतिपादित हुआ है कि प्रतीकों उपासना करने वालेंके अतिरिक्त अन्य सभी उपासक ब्रह्मलोक में जाकर अपने संकल्प के अनुसार कार्य ब्रह्म अथवा परब्रह्म को प्राप्त होते हैं। आचार्य वादरायण इसी मत को उचित मानते है और अपने प्रमाण में "तम तथोपायते तदेव भवति" इस श्रुति को प्रमाण रूप में उपन्यस्त करते है। इसका पूरा विवरण मिताक्षरा मेंइस प्रकार है-

"गतिगन्तव्ये निरूप्य, गन्तृविशेषो निरूप्यते। स एनान्ब्रह्मगमयति(छा08·10·2) इत्यत्र किममानव: सर्वानुपासकान्गमयति, किं वा प्रतीकोपासक व्यतिरिक्तानिति संशये, अविशेषात्सर्वान्ब्रह्मप्राप्तवुच्यते- अप्रतीकालबनान्दहराद्युपासकान्नयतीति बादरायणोमन्यते। एवमुभयथा द्वैविध्ये सति दोषाभावात्। कुतो द्वैविध्यं ? तत्क्रतुश्च। चो हेतौ। यह: "तं यथा यथोपासते तदेव भवति इति श्रुतौ ब्रह्मभावनारूप: क्रतु: ब्रह्मप्राप्तिहेतु: व्यपदिश्यते। न हि

चतुर्थपाद- सम्पद्याविर्भावाधिकरण में यह बताया गया है कि परब्रह्म परायण जीव के लिए परमधाम में पहुँच कर अपने वास्तविक स्वरूप से सम्पन्न होकर वह सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो विशुद्ध आत्म स्वरूप में स्थित हो जाता है। अतएव मिताक्षराकार[1] "सद्यशरीरभिमानं परित्यज्य परमब्रह्म प्राप्य मुक्तरूपेणावतिष्ठते" इस कथन से "एष[2] संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इस श्रुति का व्याख्यान करते हुये पूर्वोक्त प्रतिपादित विषय की पुष्टि की है। अविभागेनदृष्टत्वाधिकरण में यह बताया गया है कि ब्रह्मलोक में पहुँचने वाले उपासकों की तीन प्रकार की गति प्रतिपादित देखी जाती है। प्रथम यह मुक्त आत्मा परब्रह्म में अविभक्त रूप से स्थित होता है। द्वितीय मत जिसे जैमिनीय स्वीकार करते हैं। वह यह है कि मुक्त आत्मा ब्रह्म के सदृश रूप से स्थित होता है तृतीय मत यह है कि जिसे औडलोमि स्वीकार करते है कि मुक्त आत्मा अपने वास्तविक चैतन्य मात्र स्वरूप में अवस्थित रहता है। बादरायण यह कहते है कि औडलोमि और जैमिनि के कथनानुसार भी श्रुतियों में मुक्तात्मा के स्वरूप का विचार है इसलिए उनके कहे हुए सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं है। सङ्कल्पाधिकरण में यह प्रतिपादित हुआ है कि प्रजापति ब्रह्मा के लोक में जाने वाले उपासकों को ~~[illegible]~~ संकल्प से ही भोगों की प्राप्ति होती है। इसलिए अबन्ध्य संकल्प होने के कारण उसका कोई अधिपति नहीं है। अभावाधिकरण में आचार्य बादरि मुक्तात्मा में शरीर एवं इन्द्रियों का अभाव मानते है किन्तु आचार्य जैमिनि उन्हें शरीर की प्राप्ति होती है ऐसा मानते है। किन्तु आचार्य बादरायण का मत है कि दोनों तरह के श्रुति वाक्य की प्राप्ति होती है अतः द्वादश यज्ञ के समान यदि सशरीरता

- -

का संकल्प है तो सशरीरता यदि अशरीरता का संकल्प है तो अशरीरता होती है। वे जब विना शरीर के रहते है तो ऐसी अवस्था में स्वप्न के समान मन से ही भोगों का अनुभव करते हैं और शरीर रहने पर जाग्रत अवस्था के अनुसार भोगों का अनुभव करते हैं। प्रदीपाधिकरण में यह निरूपित हुआ है कि मुक्तात्मा का प्रवेश सभी शरीरों में दीपक के अनुसार हो सकता है। अतएव छान्दोग्य उपनिषद् के "स एकधा भवति त्रिधा भवति पंचधा सप्तधा नवधा" इस वाक्य को स्पष्ट करते हुए मिताक्षरा कार ने यह प्रतिपादित किया है- "इत्यनेकदेहधारणपक्षे, देहान्तराणि दारुयन्त्रवत् निरात्मकानि उत अस्मदादिवत्सात्मकानीति संशये, आत्ममन सैरेकत्वान्निरात्मकानीति प्राप्ते, ब्रूमः - यथा एकस्मात्प्रदीपादुत्पन्नानां प्रदीपानां अनेकापवरकादिनिवेशात्प्रकाशकत्वं, तथा एकस्यापि विदुषः सङ्कल्पवशान्नानातानां अनेकेषां मनसां देहान्तरेषु आवेशः निवेशः"।

इसके अनन्तर सुषुप्ति प्रलय एवं ब्रह्म सायुज्य के प्राप्ति के प्रसंग में ही नाम और रूप के अभाव का प्रतिपादन हुआ है।

जगद्व्यापारवर्जाधिकरण में यह बताया गया है कि ब्रह्मलोक में गये हुए उपासकों का भोगों को भोग के उद्देश्य से अपने लिए इच्छानुसार शरीर निर्माण तो कर सकते है पर संसार की संरचना नहीं कर सकते। क्योंकि वे अपने आधिकारिक ब्रह्ममण्डल लोक में प्राप्त ही ऐश्वर्य का भोग कर सकते हैं उससे अधिक नहीं। इसका प्रतिपादन किया गया है। इसी में यह बताया गया है कि ब्रह्लोक में जाने वाले मुक्तात्मा को निर्विकार ब्रह्मरूप फल की प्राप्ति होती है। और निर्विलिप्त भाव से वह भोगमात्र में ब्रह्मा के समान ही यद्यपि उसकी तुल्यता होती है किन्तु वह सृष्टि की रचना नही कर सकता। ब्रह्मलोक के प्राप्त

इस प्रकार वेदान्त के जो तत्त्व उपनिषदों एवं ब्रह्मसूत्रों के द्वारा प्रतिपादित हुए हैं उन सभी में अपने स्पष्ट तथा स्वतंत्र रूप में अपने मत का प्रतिपादन मिताक्षरा में प्राप्त होता है। यद्यपि यह ग्रन्थ आचार्य शंकर से प्रभावित होने के कारण उन्हीं के कथन की पुष्टि करता है फिर भी उसके प्रतिपादन करने की शैली ही ऐसी है जो उस प्रतिपादन का मौलिक रूप प्रतिपादित है।

0 0 0 0 0

0 0 0

0

चतुर्थ अध्याय

(अ) अन्नम्भट्ट के द्वारा आचार्य पद्मपाद तथा वाचस्पति मिश्र के सिद्धान्तों के अनुगमन की समीक्षा

(आ) (1) पंचपादिका

(2) पंचपादिका विवरण एवं

(3) भामती का मिताक्षरा पर प्रभाव

(इ) इन दोनों के सैद्धान्तिक मतभेदों का आलोचन

(ई) अन्नम्भट्ट पर मण्डन मिश्र कृत ब्रह्मसिद्धिका प्रभाव की समीक्षा

(उ) मिताक्षरा पर कल्पतरु का प्रभाव

(अ) अन्नं भट्ट के द्वारा आचार्य पद्मपाद तथा वाचस्पति मिश्र के सिद्धान्तों के अनुगमन की समीक्षा

आचार्य अन्नंभट्ट मिताक्षरा वृत्ति में अपने विशद अध्ययन एवं प्रतिभा के द्वारा ब्रह्म सूत्रों का संक्षेप में भावपूर्ण व्याख्यान किया है। उसकी संरचना में उन श्रेष्ठ मनीषियों के उन संरचनाओं का भी अधिक योगदान रहा है। जो ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य व्याख्यान के स्तम्भ माने जाते हैं। जिनमें आचार्य पद्मपादाचार्य की पञ्चपादिका और उस पर वैदुष्य पूर्ण आचार्य श्री प्रकाशात्म के द्वारा विवरणं व्याख्यान तथा शांकर भाष्य पर विद्वतापूर्ण आचार्य वाचस्पति मिश्र का भामती व्याख्यान विशेषतया उल्लेखनीय है। आचार्यपद्मपाद भगवतदपाद शंकराचार्य के साक्षात् शिष्य माने जाते है। इन्होंने आचार्यशंकर के शारीरक भाष्य के तात्पर्य को प्रकाशित करने का सफल प्रयास किया है। इसी तरह आचार्य प्रकाशात्म भगवान् जो अनुभव पूज्यपाद के शिष्य माने जाते है। उनका विवरण व्याख्यान पञ्चपादिका के पात्पर्य को पूरी तरह प्रकाशित करता है। मिताक्षरा में इन दोनों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। पञ्चपादिका एवं उसका उसका विवरण यह दोनों ग्रन्थ केवल प्रारम्भ के चार सूत्रों में ही है। इन्हीं चार सूत्रों में आचार्य अन्नं भट्ट ने इनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का अपने अनुसार उपयोग किया है। इससे ये प्रतीत होता है कि अन्नं भट्ट ने इनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का अनुगमन किया है। यही स्थिति लगभग भामती से सम्बन्धित सिद्धान्तों पर देखी जाती है इसके विषय में अन्नं भट्ट ने [1] मङ्गलाचरण में यह स्पष्ट कर दिया है कि उसका यह ग्रन्थ भामती आदि मतों का अनुगमन करने वाला है।

---

1. वृत्तिं मिताक्षरां कुर्वे भामत्यादिमतानुगाम्। "मिताक्षरामङ्गलाचरण"

आचार्य वाचस्पति ही सबसे पहले प्रमुख आचार्य हुए है जिनकी शारीरक भाष्य के सम्पूर्ण स्थल की प्रौढ़ व्याख्या मिलती है। इसी कारण अद्वैत वेदान्त की अध्ययन परम्परा में भामती ग्रन्थ"भामती प्रस्थान" के रूप में स्वीकार किया गया। कोई भी परवर्ती लेखक भामती से बिना प्रभावित हुए नहीं रह सकता। इस तरह अन्नं भट्ट के द्वारा भामती के सिद्धान्तों का अनुगमन अवश्यम्भावी था। इसी को मन में विचार करके अन्नं भट्ट ने भामात्यादिमतानुगम् लिखने को बाध्य हुए। उसका पालन भी किया।

इस प्रकार अन्नं भट्ट पञ्चपादिका तथा उसके विवरण और भामती के मतों का आश्रयण मिताक्षरावृत्ति में अवश्य ही किया है।

– – –

(आ) पञ्चपादिका, पञ्चपादिकाविवरण एवं भामती का मिताक्षरा पर प्रभाव

पद्मपादाचार्य की पञ्चपादिका यह ग्रन्थ आदि के चार सूत्रों में स्थित शांकरभाष्य का व्याख्यान ग्रन्थ जो वर्णक शब्द से नौ भागों में विभक्त है। इससे और अधिक यह ग्रंथ प्राप्त नहीं होता। यद्यपि यह व्याख्यान अत्यधिक विस्तृत है और सिद्धान्तों का विवेचन भी एक अलग ही रीति से हुआ है। परन्तु विवेचन की कुछ साम्यता दोनों ग्रन्थों में कुछ न कुछ अंशों में मिलती है। यद्यपि सिद्धान्त पूरी तरह से समान रूप से निवेदित नहीं हुआ किन्तु कहीं कहीं ऐसा लगता है कि पञ्चपादिका का वह अंश सूत्र रूप में मिताक्षरा में कह दिया गया है इसकी पर्याप्त व्याख्या पञ्चपादिका में विद्यमान है। तो कहीं कहीं सूत्रों के व्याख्यान में ऐसी ही शैली है जिसकी मिताक्षरा और पञ्चपादिका में समान तात्पर्य दिखलायी देता है। उदाहरणार्थ [1]पञ्चपादिका एवं मिताक्षरा का अधोलिखित अंश द्रष्टव्य है-

"किमात्मा चैतन्यप्रकाश: अनुभवो जडप्रकाश ? उत सोऽपि चैतन्यप्रकाश: ? अथवा स एव चैतन्यप्रकाश आत्मा जडस्वरूप: इति। तत्र न तावत् प्रथम: कल्प: - जडस्वरूपे प्रमाण फले विश्ववस्यनवभासप्रसङ्गात्। नैवम्- प्रमाता चेतन: तद्बलेन प्रदीपेनेव विषयमिदन्तया आत्मनं चानिदन्तया चेतयते इति न विश्वस्यान्नवभासप्रसङ्ग: तन्न- स्वयं चैतन्यस्वभावोऽपि सन् विषयप्रमाणेनाचेतनेनात्तु गृहीत: प्रकाशते इति नैतत् साधु लक्ष्यते। किं च प्रमाण फलेन चेत प्रदीपेनेव विषयमात्मनं च चेतयते तदा चेतयति क्रियानवस्थाप्रसङ्ग:।"इत्यादि।[1]

---

1. पञ्चपादिका- प्रथम वर्णक

मिताक्षरा

"न च स्वयं प्रकाशेऽध्यासासम्भव:, अनाद्यविद्या वशात्स्वयंप्रकाशेऽपि अध्यास-स्यानुभवसिद्धतया स्वरूपज्ञानस्य तदविरोधकल्पनात्। दृष्टानुसारित्वात्कल्पनाया:।"[1]

पूर्वोल्लिखित पञ्चपादिका के ग्रन्थ का यह मिताक्षरा ग्रन्थ एक संक्षिप्तांश जैसे प्रतीत होता है जहाँ स्वयं प्रकाश आत्मा में अनाद्य विद्या के वश से अध्यास को स्वीकार किया गया है। इसी तरह से अन्य भी पञ्चपादिका[1] के उदाहरणों का संक्षिप्त अंश के रूप में[2] मिताक्षरा ग्रन्थ दिखायी पड़ता है। जैसे-

"ननु अनर्थहेतुरध्यासोऽनादि:, स कथं प्रदीयते। तथा हि -मनुष्यादिजातिविशेषमात्राध्यास: ततो विविक्तेऽपि न्यायत: अहंप्रत्यये अनादित्वात् पूर्ववदविकलो वर्तते। नायं दोष: -तत्त्वमसीत्यादिवाक्यहलब्रह्मरूपावगाहि ज्ञानान्तरोत्पत्तेरिष्टत्वात् ।तद्धि ब्रह्मणोऽवच्छिद्यैव चैतन्यस्य ब्रह्मरूपत्वप्रच्छादनेन जीवरूपत्वापादिकामनादिसिद्धामविद्या महद्धकरादिविक्षेपहेतुं विराकुर्वदेवोत्पद्यते। तत: कारणनिवृत्तौ तत्कार्य अहमिति जीवे भोक्तृरूपता सपरिकरानिवर्तते इति युज्यते। अहं प्रत्यय: पुनरनादिसिद्धोऽनादिसिद्धेनैव कार्यकरण मात्रेण सद्भावादविरोधात् न स्वरूपविवेकमात्रेण निवर्तते। नापि ज्ञानान्तरमुत्पन्नमिति विशेष:।"[1]

इस पञ्चपादिका ग्रन्थ में प्रतिपादित विषय का संक्षिप्त रूप[3] मिताक्षराकार द्वारा प्रस्तुत इस प्रकार है-

---

1. मिताक्षरा 1.1.1
2. पञ्चपादिका-प्रथम वर्णक
3. [illegible]
[illegible]

[1] " न च "तत्वमसि" [छा0 6·8·7] "अयमात्मा ब्रह्म [माण्डू0 2] इत्यादिभिः ऐक्य प्रतिभासनादहंप्रत्यये च भेदप्रतिभासनात्सन्देहः, अबाधिताहंप्रत्ययविरोधेन श्रुतेरुपचरितार्थत्वात्। न चाध्यस्ताहंकारविषयत्वेन अहंप्रत्यस्य दुर्बलत्वं, स्वयंप्रकाशे ब्रह्माणि कर्तृत्वाध्यासासम्भवात्।"

पूर्वोक्त इन दो उदाहरणों से यह सिद्ध होता हैं कि कई स्थलों में मिताक्षरा वृत्ति पर पञ्चपादिका का प्रभाव प्राप्त होता हैं। पञ्चपादिका में अधिकतर व्याख्यान भाष्य के शब्दों को लेकर हुआ है परन्तु बीच-बीच में ग्रन्थकार अपने ही मतों का उल्लेख करने का प्रयास किया है और उसका विवरण भी कहीं-कहीं पर विशद रूप में प्रस्तुत किया है। सूत्रार्थ के विवेचन में भी भाष्यकार के मतों की ही पुष्टि पञ्चपादिका में हुई हैं। किन्तु वह विवेचन कुछ स्थलों में मिताक्षरा से मिलता सा है। जैसे-

[2] "अयमपरः प्रपञ्चकारणस्य ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वे हेतुः। अनेकनानाविधविषयविद्यास्थानोपबृंहितस्य वेदाख्यस्यापि शास्त्रस्य प्रपञ्चान्तःपादितत्वात् तत एव जन्म। न च तेनाविषयीकृतस्य सद्भावे प्रमाणमस्ति। अतः सर्वविषयत्वात् सर्वं तत्। कल्पप्रत्यययोगो भाष्ये बोद्धृत्वाभावादीषदपरिसमाप्त्या। ततश्च तस्य कारणं तद्विषयादप्यधिकतरग्रहणसमर्थं गम्यते। दृश्यते ह्यद्यापिशास्त्रकाराणां तथाभावः।"[1]

[3] "पूर्वं जगत्कारत्वेन सर्वज्ञत्वं ब्रह्मणस्सिद्धं, तत्रैवार्थिके सर्वज्ञत्वे हेत्वन्तरमुच्यते। [शास्त्रयोनित्वादिति]। शास्त्रं वेदः, तद्योनित्वं तत्कर्तृत्वं वेदकर्तृत्वादपि ब्रह्मणस्सर्वज्ञत्वमित्यर्थः।"

पूर्वोक्त पञ्चपादिका तथा मिताक्षरा के उदाहरण पर्याप्त तुल्यता को लिये हुए हैं। जिसप्रकार जगत् के कारण के रूप में सर्वज्ञ ब्रह्म को पञ्चपादिका में स्वीकार किया गया है और सभी का विषय होने के कारण सर्वज्ञ कहा गया है उसी तरह यहाँ भी जगत् कारण के रूप में ब्रह्म को सर्वज्ञ कहा गया है। उस सर्वज्ञ को जानने के लिए शास्त्र को ही मुख्य कारण स्वीकार किया गया है। इस प्रकार उपर्युक्त दोनों के कथन मिलने से यह प्रतीत होता है कि मिताक्षराकार ने पञ्चपादिका में पर्याप्त व्याख्यात विषय का कई स्थलों में अपने शब्दों मे संक्षेप रूप प्रदान कर लिखा है। इसी तरह मिताक्षराकार ने वेद को अपौरुषेय स्वीकार किया है जिसको मिमांसक भीपूर्णतया स्वीकार करते हैं। उसी को अपने शब्दों में सिद्ध करते हुए हुए पञ्चपादिकार ने इस प्रकार कहा है-

"नन्वपौरुषेयत्वात् तज्जन्यस्वार्थपरिच्छेदे अनपेक्षं कथमप्रामाण्यम्। सत्यम्, तथापि यथा चाक्षुषं स्पार्शनगोचरचित्रनिम्नोन्नतज्ञानं तेनासंवादादप्रमाणं तथेदापि स्यात्। किं च पुरुषार्थानुपयोगित्वादप्यप्रामाण्यम्। पुरुषार्थौ हि नाम सुखावाप्तिः दुःखपरिहारश्च। तौ च असिद्धत्वाद्धानोपादानविषयौ न सिद्धवस्तुन्य क्रियाशेषे सम्भवतः।"[1]

मिताक्षरा[1] ग्रन्थ में अपौरुषेयत्व का कथन वेद के विषय में जिस स्थल पर हुआ है वह ग्रन्थ इस प्रकार है-

- -

1. पञ्चपादिका - अष्टकम् वर्णकम्

1. मिताक्षरा -1.1.3

"न चैवं वेदस्य पौरुषेयत्वापत्तिः। वर्णनित्यत्वादिनामपि आनुपूर्व्या अनित्यत्वेन पौरुषेयत्वापातात् । पूर्वपूर्वानुपूर्वीसजातीयानुपूर्वीकत्वेन तस्य अपौरुषेयत्वं सिद्धान्तेऽपि समानम्।"धाता यथापूर्वमकल्पयत्" [ऋ० स-10।190-3] इति श्रुत्या पूर्वपूर्वकल्पसिद्धानुपूर्वीकत्वेन सजातीयनुपूर्वीकवेदराशेरेप उत्पत्त्यवगमात्"।

यद्यपि वेद के अपौरुषेयत्व का स्वरूप पर्याप्त विशद रूप में पञ्चपादिका में प्रतिपादित हुआ है किन्तु मिताक्षराकार ने थोड़े शब्दों में एक झलक दी है।

वस्तुत: वेद का अपौरुषेयत्व न केवल पूर्वमिमांसक अपितु उत्तरमिमांसक एवं वैयाकरण सभी स्वीकार करते है। क्योंकि वेद का स्वरूप परम्परा से ही प्राप्त हो रहा है जो गुरु शिष्य के रूप में अनादिकाल से अवच्छिन्न रूप में चली आ रही है और उसके कर्त्ता के रूप में किसी भी व्यक्ति विशेष का न तो परम्परा से न कहीं अन्य स्थलों में कोई प्रमाण उपलब्ध होता। ऋषियों को वेद के वाक्यों के साक्षात्कर्त्ता के रूप में स्वीकार किया गया है न कि कर्त्ता के रूप में। इसी लिए ऋषि शब्द के व्याख्या में "ऋषयो: मन्त्र द्रष्टार:" यह लक्षण प्राप्त होता है। अत: इन दोनों ग्रन्थकारों के द्वारा वेद का अपौरुषेयत्व कथन सर्वथा उपयुक्त ही है।

पञ्चपादिका में ब्रह्म के विषय में तथा माया के विषय में पर्याप्त विवेचन करके मोक्ष का सैद्धान्तिक स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इसी तरह प्रत्येक सिद्धान्तों का मात्र इन चार सूत्रों के व्याख्यान में ही पञ्चपादिका कार ने पर्याप्त प्रतिपादित किया है।

पञ्चपादिका में ब्रह्म के विषय में तथा माया के विषय में पर्याप्त विवेचन करके मोक्ष का सैद्धान्तिक स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इसी तरह प्रत्येक सिद्धान्तों का मात्र इन

चार सूत्रों के व्याख्यान में ही पञ्चपादिकाकार ने पर्याप्त प्रतिपादित किया है।

पञ्चपादिका के विरण का प्रकाशात्मयति ने पञ्चपादिका में प्रतिपादित सिद्धान्तों को लेकर उनको परिष्कृत रूप में उपस्थापित किया। इस पञ्चपादिका के विवरण का मिताक्षरा में भी प्रभाव देखा गया है। इस विषय में एक उदाहरण पञ्चपादिका के विवरण और मिताक्षरा का अवश्यमेव द्रष्टव्य है-

"[1] ननुं विधिपरत्वे वेदान्तानां तन्निष्ठतया ब्रह्मस्वरूपस्य असिद्ध्यादिदोषप्रसङ्गात् नास्ति श्रवणादिविधानं इति भाष्यकारैरेव दर्शितम्। सत्यम्। ज्ञानविधिः तत्र निराकृतः न श्रवणादिविधिः तत्र उक्तदोषप्रसङ्गाभावात्। कथम् ? दर्शनविधाने हि ब्रह्म कर्मतया गुणभूतं प्रसज्यते। ब्रह्मदर्शनमुद्दिश्य विचारविधाने तु स्वप्रधानफलभूतदर्शनविशेषणतया ब्रह्मापि स्वप्रधानं भवति न तु गुणभूतं इति वेदान्तैः ब्रह्मणि स्वप्रधाने प्रतिपाद्यमाने तद्दर्शनाय श्रवणादिविधानं नैव विरुध्यते।"

"[2] समन्वसूत्रे (ब्र०सू० 1-1-4) भगवत्पादैः "श्रोतव्य" इत्यत्र आत्मज्ञानविधिर्निराकृतो, न तु ज्ञानोद्देशेन विचारविधिरिति न तद्विरोधोऽपीति। तस्माद्विचारविधौ न किञ्चद्बाधकम्। एवं स्थिते श्रवणविधेरपेक्षिताधिकारिविषयफलत्रयमागमिकमपि न्यायेन निर्णेतुमिदं सूत्रं "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इति।

इस तरह उनके ग्रन्थों में तात्पर्य की साम्यता पायी जाती है यद्यपि उपर्युक्त दोनों ग्रन्थ शारीरक भाष्य को लेकर तत् तत् लेखकों के द्वारा लिखे प्रतीत होते हैं किन्तु दोनों का यह भाव कि भाष्यकार के द्वारा "श्रवण विधि का निराकरण नहीं किया गया है, ज्ञान विधि का निराकरण किया गया है" यही प्रतिपादितहुआ है। इस तरह और भी अनेक उदाहरण इनके साम्यता के प्राप्त होते हैं।

जिज्ञासाधिकरण में मिताक्षराकार[1] ने विवरणकार का स्पष्टतः नामोल्लेख करते हुए उनके मत के तात्पर्य को स्पष्ट रूप से उल्लेख करते हुए इस प्रकार लिखा है-

"पूर्वमीमांसया अगतार्थत्वमपि अतशब्दार्थः, कार्यरूपधर्मप्रतिपादकपूर्वतन्त्रस्य सिद्धब्रह्मप्रतिपादकत्वाभावात् आगतार्थत्वम्। एवं कर्तृत्वभोक्तृत्वादेरध्यस्तत्वमप्यतशब्दे- नोच्यते। तेन ज्ञानेन बन्धनिवृत्तिलक्षणो मोक्षः सिद्ध्यतीति। तस्मात्साधनचतुष्टयसंपन्नस्य यतस्साधनचतुष्टयं संभवति, पूर्वमीमांसया अगतार्थत्वं, कर्तृत्वभोक्तृत्वादेः अध्यस्तत्वं, अतो मोक्षसाधनब्रह्मज्ञानाय वेदान्तवाक्यविचारः कर्तव्य इति सूत्रार्थः इति विवरणानुसारिणः।"

यह विषय पञ्चपादिका विवरण में अनेक पूर्वपक्षों एवं उत्तर पक्षों को उद्- भावित करके मिताक्षराकार के द्वारा उपर्युक्त प्रतिपादित सिद्धान्त का ही पोषण किया गया है। जिसका[2] कुछ अंश उदाहरणार्थ इस प्रकार है-

ननु हेतुत्वमार्थिकम् , तद्वाभिधेयमथशब्दस्य। सत्यम्, आर्थिकोऽर्थे तात्पर्यात् आन- न्तर्यमात्रे वैफल्यात यत्परः शब्दः स वाक्यप्रयोगे शब्दार्थ इत्यथ शब्देनैव हेतुत्वसिद्धेः न अतशब्दोऽपेक्ष्यत इति। अतशब्दाभावे माङ्गल्यादीनामन्यतमार्थता अथशब्दस्य प्रसज्यत इति चेत्, न - निराकृतत्वात्। धर्ममीमांसायां सत्यप्यथशब्दे अतशब्देनापि तस्य हेतुत्व- मुक्तमितिचेत्, अन्धगोलाङ्गलन्यायैकशरणोऽयं सर्वसंकरवादी न हि अन्यत्र विद्यमानः पुनरु- क्तिदोषोऽस्माभिरप्यनुसरणीयाः। तस्मात् अतशब्दवैयर्थ्यमिति प्राप्तम्। अत्र अथशब्दपरि- गृहीतस्यैव हेतुत्वस्य हेत्वन्तरेण अपबाधाशङ्कायां तन्निराकरणं पुनः अथशब्दोक्त हेतुत्वा- भिधायिना अतशब्देन क्रियत इति दर्शितम् "यस्माद्वेद एवाग्निहोत्रादीनाम्" इत्यादिभाष्येण।

---

1. मिताक्षरावृत्ति 1.1.1

2. पञ्चपादिकाविवरण -तृतीय वर्णकम् पृ0 563

इस तरह विवरणकार का विषय मिताक्षराकार के द्वारा संक्षेप में उधृत हुआ है।

वस्तुत: पञ्चपादिका एवं पञ्चपादिका विवरण इन दोनों ग्रन्थों का अनुशीलन मिताक्षराकार ने किया था और उन मतों का आंशिक रूप में अपने व्याख्यान में ग्रहण किया। इस तरह इन दोनों से मिताक्षराकार पर्याप्त प्रभावित सिद्ध होते है, यह कहा जा सकता है।

वाचस्पति मिश्र अद्वैत वेदान्त के एक स्तम्भ माने जाते है। अद्वैत वेदान्त में विशेषतया ब्रह्मसूत्रों में कोई कुछ लिखे और भामती को स्पर्श न करें यह सम्भव नहीं है क्योंकि भाष्य के तात्पर्य को कितने तरह से समझा जा सकता है और उसकी गम्भीरता कितनी है, इसको जितने अच्छे ढंग से भामती के द्वारा जाना जा सकता है उतना अन्यत्र अत्यधिक परिश्रम करने पर ज्ञात होना सम्भव नहीं है। क्योंकि भामतीकार भाष्यकार के तथा सूत्रकार के तात्पर्यो को अपने मस्तिष्क में पूरी तरह से स्थापित करके ही लिखते हैं इसी लिए इनके तर्क अपनी श्रेष्ठता को लिए रहते है। अन्नं भट्ट मिताक्षरा के लिखने से पूर्व ही यह समझ लिया था कि भामती का आश्रय बिना किये सारगर्भित लेखन सम्भव नहीं है और इसीलिए प्रतिज्ञावाक्य में "भामत्यादिमत्तानुगाम्" यह लिखना पड़ा। मिताक्षरा का प्रत्येक विषद व्याख्यान भामती से प्रभावित लगता है, यद्यपि मिताक्षरा की भाषा पृथक है किन्तु 'ननु न व की प्रयोग की शैली कुछ स्थल पर विशेष रूप से मिताक्षरा में प्राप्त होते है वह स्थल भामती के व्याख्यान शैली का प्रभाव लिए रहता है, यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है। क्योंकि शैली में पर्याप्त साम्यता प्रतीत होती हैं। इस प्रकार विषय के साथ-साथ

" -

शैली से भी प्रभावित मिताक्षराकार देखे जाते है। अन्नं भट्ट भामती के तात्पर्य को दो प्रकार से ग्रहण किया है।एक तो उनके तात्पर्य को अपने तात्पर्य में परिवर्तित करके, और दूसरे उनका नामोल्लेखपूर्वक उनके मतों का उपस्थापना करके। विशेषयतया जहाँ भी भामतीकार के नामोल्लेखपूर्वक उनके तात्पर्य का कथन होता है वह सिद्धान्त रूप में स्वीकार करने के लिए आता है। कतिपय उदाहरण भामती एवं मिताक्षरा जिनमें विषय की साम्यता देखने में आती है वे इस प्रकार है-

1. [1]"नन्वधिकारार्थोऽप्यथशब्दो दृश्यते, यथा "अथैष ज्योतिः" रीति वेदे,यथा वा लोके "अथ शब्दानुशासनम्" "अथ योगानुशासनम्" इति। तत्किमत्राधिकारार्थो न गृह्यत इत्यत आह "नाधिकारार्थः"। कुतः ? "ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात्" । जिज्ञासा तावदिह सूत्रे ब्रह्मणश्च तत् प्रज्ञानाच्च शब्दतः प्रधानं [3] प्रतीयते। [4] न च यथा "दण्डी प्रैषानन्वाह" त्यत्राप्रधानमपि दण्डशब्दार्थो विवक्ष्यते, एवमिहापि ब्रह्मातज्ज्ञाने इतियुक्तम्। ब्रह्ममीमांसाशास्त्रप्रवृत्त्यङ्गसंशयप्रयोजनसूचनार्थत्वेन जिज्ञासाया एवं विवक्षितत्वात्"।

---

1. भामती 1.1.1 पृष्ठ 25

2. [1] "ननु " अथ शब्दानुशासनम्" "अथ योगानुशासनम्" इत्यत्रेव अथशब्दस्याधिकारार्थत्वमस्तु। न च ब्रह्मजिज्ञासाया अवधिकार्यत्वं, जिज्ञासाशब्देन विचारस्य लक्षितत्वाद्विचारस्य प्रत्यधिकरणं वर्तिष्यमाणत्वेन अधिकृतत्वासम्भवात, इति चेन्न। अनन्तर्याभिधानमुखेन विध्यपेक्षिताधिकारिविशेषसमर्पकत्वेन सार्थकत्वे सम्भवति तदनपेक्षिताधिकारार्थत्वस्यायोगात्।"

इन दोनों स्थलों में अथ शब्द के अधिकारार्थत्व को लेकर विचार किया गया है तथा उदाहरण के रूप में अथयोगानुशासनम् और अथशब्दानुशासनम् को प्रस्तुत किया गया है। प्रतिपाद्य के एक होने से विषय की साम्यता दोनों में देखी जाती है।

[2] "अथैते वृद्ध्यादयो न जन्मादिष्वन्तर्भवन्ति तथाप्युत्पत्तिस्थितिभङ्गमेवोपादातव्यम्, तथासति हि तत्प्रतिपादके "यतो वा इमानि भूतानि" ति वेदवाक्ये बुद्धिस्थीकृते जगन्मूलकारणं ब्रह्म लक्षित भवति, अन्यथा तु जायतेऽस्ति वर्धत इत्यादीनां ग्रहणे तत्प्रतिपादकं नैरुक्तवाक्यं बुद्धौ भवेत्, तच्च न मूलकारणप्रतिपादनपरम्, महासर्गादूर्ध्वं स्थितकालेऽपि तद्वाक्योदितानां जन्मादीनां भावविकाराणामुपपत्तेः।

इसी विषय को सूत्रार्थ के लेखन के समय स्पष्ट करते हुए मिताक्षराकार ने इस प्रकार लिखा है-

[3] "प्रथमसूत्रे ब्रह्ममीमांसायाः प्रतिज्ञातत्वात्, तस्याश्च लक्षणप्रमाण समन्वयाविरोध साधनफलविषयतया अनेकविधत्वेऽपि, प्रथमं ब्रह्मणः प्राधान्यस्तल्लक्षणार्थं सूत्रं "जन्माद्यस्ययतः" इति। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभि संविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व।" (तै० 3-1) इत्येतद्वाक्यनिर्दिष्टानां जन्मस्थिति विलयानां जन्मादीति बहुव्रीहिणा निर्देशः। तत्र अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहौ, जन्मादी अस्येति निर्देशः"।

- -

इन दोनों प्रतिपादनों में यही साम्यता है कि जगत् के मूल कारण के रूप में अर्थात उसके जन्म स्थिति एवं विलय का वास्तविक कारण के रूप में ब्रह्म को ही स्वीकार किया गया है। भामतीकार के मूलस्वरूप को ही मिताक्षराकार ने स्वीकार किया है उनके विशद व्याख्यान को अपनाने का प्रयत्न नहीं किया। इसी लिए आंशिक साम्यता भी दोनों के प्रतिपादन में अधिकांश देखने में आती है।

तीसरे शास्त्रयोनित्वात् सूत्र में वेद की अपौरुषेयता का व्याख्यान जिस तरह से भामतीकार ने प्रगट किया है। उस तरह से यद्यपि मिताक्षरा में नहीं हुआ है फिर भी शैली की भिन्नता होते हुए भी तात्पर्य का ऐक्य दोनों में लगभग समान दिखायी पड़ती है जिसका एक [1] उदाहरण इस तरह है-

"तत्त्वज्ञानवतश्चापास्तसमस्तदोषस्यैकस्यापि प्रतिभाने युक्त एवाश्वासः। [2] सर्गादिभुवां प्रजापतिदेवर्षीणां धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्नानामुपलब्धे तत्त्वस्यावधारणं, तत्प्रत्ययेन-चार्वाचीनानमपि तत्र सम्प्रत्यय इत्युपपन्नं ब्रह्मण: शास्त्रयोनित्वं, शास्त्रस्य चापौरुषेयत्वं प्रमाण्यं चेति।

इस भामती ग्रन्थ के समान तात्पर्य वाला मिताक्षरा ग्रन्थ इस प्रकार है-

"इयान्विशेष: सृष्टिप्रलयानङ्गीकारवादिनां पूर्वपूर्वाध्यापकप्रसिद्धैवानुपूर्वी। सिद्धान्ते तु तदङ्गीकारात् सृष्टयाद्यादावीश्वरेण कल्पान्तरसिद्ध वेदराजातीय एव वेदोऽनायासेदीपदिश्यत इति पूर्वपूर्वसदृसजातीयवेदोपदोपदेश न कश्चिद्विशेष इति।

---

1. भामती 1.1.3

2. मिताक्षरावृत्ति 1.1.3

इस तरह से इस मिताक्षरा ग्रन्थ और भामती ग्रन्थ में वेद के अपौरुषेयत्व के रूप में जो बताया गया इससे यह स्पष्ट होता है कि वेद का जो स्वरूप हम तक उपलब्ध है उस ब्रह्म राशि के साक्षात्कर्ता जो सृष्टि के आदि में हुए थे उन तत्त्वज्ञानियों ने जिन अपौरुषेय वैदिक मन्त्रों का साक्षात्कार किया वे मन्त्र गुरुशिष्य परम्परा से हमतक उपलब्ध है और इसी लिए वे अपौरुषेय है क्योंकि ऋषि उन मन्त्रों के द्रष्टा माने जाते है, न कि साक्षात्कर्ता। उपदेश से वेद की पार्थक्ता सिद्ध नहीं होती क्योंकि उसकी आनुपूर्वी वही है जो पूर्व में थी ।

गुरू के उच्चारण के अनन्तर उच्चारण करना अध्ययन कहलाता है और इसी प्रणाली का परिपालन पारम्परिक वेदाध्ययन में होता है। इसीलिए न केवल शब्दानुपूर्वी अपितु वहीं उच्चारण जो आदिकाल अर्थात् उन ऋषियों के समय था वहीं उच्चारण आज भी सुरक्षित है। जो परम्परा से वेदाध्ययन करने वाले वैदिकों के पास सुरक्षित है। इसी से वेद की अपौरुषेयता सिद्ध होती है।

किसी किसी स्थल में भामती और मिताक्षरा के शब्द और तात्पर्य दोनों समान दिखाई पड़ते है। जैसे "अत्ता चराचर ग्रहणात्" इस सूत्र में दोनों की एकरूपता का उदाहरण इस प्रकार है-

[1] "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भक्त ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः।" [1·2·24] इति। अत्र ओदनोपसेचनसूचितः कश्चिदत्ता प्रतीयते। स किमग्निः, जीवः परमात्मा वेति संशये, "अग्निरन्नादः" [बृ0 1·4·6] "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति"

1· मिताक्षरा वृत्ति 1·2·9

(मुण्ड० 3·1·1) इति अग्निजीवयोरत्तृत्वप्रसिद्धेस्तयोरन्यतर इह अत्ता भवितुमर्हतीति प्राप्ते ब्रूम: -अत्ता चराचरग्रहणात्। अत्र अत्ता परमात्मैव। कुत: ? चराचरग्रहणात्। चरं अचरं च तयो: स्थावर जङ्गमयो: अत्राद्यत्वेन ग्रहणात् श्रवणादित्यर्थ:। मृत्युपसेचनत्वेन प्राणिमात्रस्याद्यत्वेन प्रतीयमानत्वात्। ब्रह्मक्षत्रग्रहणस्य प्रदर्शनमात्रार्थत्वोपपत्ते:। परमात्मन: सर्वसंहर्तृत्वाच्चराचरस्याद्यत्वेन ग्रहणमुपपद्यतेतराम्।"

[2]"अथ तु संहर्तृता भोक्तृता, तत्त्रयाणामग्निजीवपरमात्मानां प्रश्नोपन्यासोपन्यासोपलब्धे: संहर्तृत्वस्याविशेषाद्भवति संशय: - किमत्ताऽग्निराहो जीव उताहो परमात्मेति। अत्रौदनस्य भोग्यत्वेन लोके प्रसिद्धेर्भोक्तृत्वमेव प्रथमं बुद्धौ विपरिवर्तते, चरमं तु संहर्तृत्वमिति भोक्तैवात्ता। तथा च जीव एव। " न जायते म्रियते" इति च तस्यैव स्तुति:, संहारकालेऽपि संस्कारमात्रेण तस्यावस्थनात्। दुर्ज्ञानत्वं च तस्य सूक्ष्मत्वात्। तस्माज्जीव एतत्तेहोपास्यत इति प्राप्तम्। यदि तु संहर्तृत्वमत्तृत्व तथाप्यग्निरत्ता,"अग्निरन्नाद" इति श्रुतिप्रसिद्धिभ्याम्।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते-अतात्र परमात्मा, कुत: ? चराचरग्रहणात् । उभे यस्यौदन" इति "मृत्युर्यस्योपसेचन" मित्ति च श्रूयते। तत्र यदि जीवस्य भोगायतनतया तत्साधनतया च कार्यकारणसङ्घात: स्थितो, न तदद्यौदन:।"

ये दोनों स्थल परस्पर में पर्याप्त साम्यता रखते हैं। यद्यपि मिताक्षरा ग्रन्थ भामती की अपेक्षा अल्प है फिर भी कम से कम शब्दों में अपनी पूरीबात कहा है जिसे भामतीकार ने अधिक से अधिक शब्दों में बतलाने का प्रयत्न किया है।

2· भामती - 1·2·9

तात्पर्य यह है कि मिताक्षराकार भामती के सिद्धान्तों को जो विशद रूप में विद्यमान है उन्हें कम से कम शब्दों में प्रतिपादित किया है। लगभग सभी सूत्रों के वे व्याख्यान जिनकी मिताक्षराकार ने विशद रूप में व्याख्या की है। वहाँ भामती व्याख्यान का सहारा अवश्य लिया है।

मिताक्षरा का भामती ग्रन्थ का नाम ग्रहण किये ही उनके सिद्धान्तों को अपनाया है किन्तु[1] " समान चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य" इस सूत्र में भामती शब्द का उल्लेख करते हुए[2] भामती ग्रन्थ का तात्पर्य इस तरह उद्धृत किया है-"भामत्यान्तु पञ्चमी हेतावेव योजिता समानेति प्रतिज्ञा। कुत: ? आसृत्युपक्रमात्। स्त्रियते गम्यते प्राप्यते देवयानेन इति सृति: कार्यं ब्रह्मलोकप्राप्ति:। आसृति उपासकस्य उपक्रम: प्रयत्न:, तस्मादित्यर्थ:।"

इस मिताक्षरा ग्रन्थ से सम्बद्ध[3] भामती ग्रन्थ इस प्रकार है-

"सृति: सरणं देवयानेन यथा कार्यब्रह्मलोकप्राप्तिरासृतेराकार्यब्रह्मलोक प्राप्ते:। अयं विद्योपक्रम आरम्भ: प्रयत्न इति यावत्। तस्मादेतदुक्तं भवति- नेयं परा विद्या यतो न मोक्षनाडीद्वारमाश्रयते, अपि त्वपरविद्येयम्। न चास्मात्यन्तिक: क्लेशप्रदाह्ये यतो न तत्रोत्क्रान्तिर्भवेत।"

यद्यपि भामती ग्रन्थ में आसृत्युपक्रमात् में पञ्चमी तृतीया अर्थ में है यह शब्दत: उल्लेख नहीं किन्तु सरणं देवयानेनयथा कार्यब्रह्मलोकप्राप्ति:" इस कथन से तृतीयार्थता प्रतीत होती है। इस तरह से भामती शब्द का उल्लेख करते हुए मिताक्षरा का व्याख्यान इस एक

1• ब्रह्मसूत्र 4•2•7

2• मिताक्षरावृत्ति 4•2•7

3• भामती - 4•2•7

ही स्थल में हुआ है। यद्यपि जिज्ञासाधिकरण में वाचस्पति मिश्रानुसारिणस्तु इस कथन से सूत्र में कर्त्तव्य इस पद का अध्याहार नहीं करना चाहिए यह जो कथन मिताक्षराकार का है उससे सम्बन्धित वाचस्पति ग्रन्थ के उपलब्ध न होने से यह प्रतीत होता है कि वाचस्पति मिश्र के अनुयायी किसी अन्य विद्वान का मत अन्नंभट्ट ने उद्धृत किया है जो वाचस्पति मिश्र के सिद्धान्त का अनुसरण करता है किन्तु वह ग्रन्थ भामती में नहीं है।

वस्तुत: वाचस्पतिमिश्रानुसारिणस्तु इस कथन के द्वारा अन्नंभट्ट अपनी ही बात को कहना चाहते है क्योंकि वाचस्पति मिश्र के पूर्णत: अनुयायी ये अपने को स्वयं मानते है। इसी के आधार पर इन्होंने अपने मतों को वाचस्पतिमिश्रानुसारिण: इस कथन के द्वारा उद्धृत किया है।

इस प्रकार भामती के अनुसार ही अधिकतर मिताक्षरा ग्रन्थ के उपलब्ध होने से ज्ञात होता है कि मिताक्षरा में भामती का पर्याप्त प्रभाव है। ऐसा नहीं है कि अन्नंभट्ट सर्वत्र भामती का ही सहारा लेते हैं। बहुत से ऐसे स्थल हैं जहाँ इन्होंने अपनी पूर्ण मौलिकता का परिचय दिया है। परिप्रेक्ष्य में पूर्व के चार सूत्रों का व्याख्यान विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जहाँ नियम और परिसंख्या का तथा लक्षणों के स्वरूप का स्पष्ट व्याख्यान हुआ है जिसकी पञ्चपादिका या भामती में चर्चा तक नहीं है। इस तरह मिताक्षरा ग्रन्थ जहाँ इन दोनों के सिद्धान्तों को ग्रहण किया है वहीं अपनी मौलिकता का भी परित्याग नहीं किया, यही इसकी विशेषता है।

- - -

(इ) इन दोनों के सैद्धान्तिक मतभेदों का आलोचन

अद्वैत वेदान्त की दो धारायें हैं एक तो पद्मपादाचार्य के मत से प्राप्त तथा दूसरी मण्डन मिश्र के सिद्धान्तों से प्राप्त। पद्मपादाचार्य के सिद्धान्तों के अनुयायियों में पञ्चपादिका के विवरणकार प्रकाशात्मयति है। जिनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त एक प्रमुख मत के रूप में माने जाते हैं। मण्डनमिश्र के मतानुयायियों में भामतीकार का विशेष स्थान है। आचार्य वाचस्पति ने अपने सिद्धान्तों को जिस प्रमुख सिद्धान्त के आधार पर प्रमुख स्वरूप प्रदान किया है। वे प्रमुख सिद्धान्त मण्डनमिश्र के ही है। इस तरह पञ्चपादिका और भामती इन ग्रन्थों में कुछ सैद्धान्तिक भेद आते हैं। इनमें अविद्या के आश्रय और विषय को लेकर, मूला विद्या के नानात्व और एकत्व को लेकर, श्रवण, मनन निदिध्यासन में एक का प्रधानत्व शेष का अप्रधानत्व को लेकर और मुक्त जीव के स्वरूप को लेकर भेद देखने में आता है।

वैसे भामतीकार और पञ्चपादिकाकार दोनों का अन्तराल इतना है कि स्वाभाविक रूप में अन्यत्र भी व्याख्यान में भेद प्राप्त होता है। भामती कार के समय में पञ्चपादिका का लगभग पूरा स्वरूप उपलब्ध था इसलिए चतुःसूत्री से अतिरिक्त सूत्रों में भी पञ्चपादिका के मतों का उल्लेख करके उनका निराकरण किया है। इस तरह इन दोनों व्याखयानों में कई स्थलों में सामान्य और विशेष भेद प्राप्त होते है। पञ्चपादिकाकार आचार्य पद्मपाद जीव जो स्वयं अविद्या का परिणाम है वह अविद्या का आश्रय कैसे हो सकता है क्योंकि परिणाम परिणामी का आश्रय नहीं हो सकता। पद्मपादाचार्य अविद्या के आश्रय और विषय भेद को स्वीकार नहीं किया। जिनके मत में परब्रह्म ही अविद्या का आश्रय भी है और विषय भी। इस तरह परब्रह्म तथा अविद्या में आश्रय आश्रयी भाव तथा विषय

विषयी भाव सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध अनादि तथा स्वाभाविक है। इस आशय का पञ्चपादिका ग्रन्थ इस प्रकार है-[1]

"प्रत्यगात्मनि तु चितिस्वभावत्वात् स्वयम्प्रकाशमाने ब्रह्मस्वरूपानवभासस्य अनन्यनिमित्तत्वात तद्‌गतनिसर्गसिद्धाविद्याशक्तिप्रतिबन्धादेव तस्य अनवभास:। अत:सा प्रत्यकचिति ब्रह्मस्वरूपावभासं प्रतिबन्धाति, अहंकाराद्यतद्रूपप्रतिभास निमित्तं च भवति, सुषुप्त्यादौ च अहङ्कारादि विक्षेपसंस्कारमात्रशेषं स्थित्वा पुनरुद्भवति, इत्यत: नैसर्गिकोऽपि अहङ्कारममकारात्मको मनुष्याद्यभिमानो लोकव्यवहार: मिथ्याज्ञाननिमित्त: उच्यते, न पुन: आगन्तुकत्वेन। तेन नैसर्गिकत्वं नैमित्तकत्वेन न विरुध्यते।"

भामतीकार अविद्या को ब्रह्म के विषय के रूप में स्वीकार करते है तथा उसके आश्रय के रूप में जीव को स्वीकार करते हैं क्योंकि ब्रह्म चिदात्मक है इसलिए वह अविद्या का आश्रय नहीं बनता उसका विषय बन सकता है किन्तु जीव अविद्या का आश्रय भी होता है इसलिए वहाँ अन्योन्याश्रयदोष की आशंका होती है। इसके विषय में [2] भामती ग्रन्थ इस प्रकार है-

---

1. पञ्चपादिका - प्रथम वर्णक पृष्ठ 29-30

2. भामती 1.1.1

"चित्स्वभाव आत्मा विषयी, जडस्वभावा बुद्धीन्द्रियदेहविषया विषया:। एते हि चिदात्मानं विसिन्वन्ति अ-वबध्नन्ति, स्वेन रूपेण निरूपणीय कुर्वन्तीति यावत् परस्परानध्यासहेतावत्यन्तवैलक्षण्ये दृष्टान्त "स्तम: प्रकाशवदितिनहि जातु कश्चिचसमुदा-चरद्वृत्तिनी प्रकाशतमसी परशतमसी परस्परात्मतया प्रतिपत्तुमर्हति। तदिदमुक्तमितरेतरभा-वानुपपत्ताविति। इतरेतरभाव इतरेतरत्वं तादात्म्यमिति यावत। तस्यानुपपत्ताविति।"[1]

स्यादेतत्। मा भूद्धर्मिणो: परस्परभावस्तद्धर्माणां तु जाड्यचैतन्यनित्यत्वानि-त्यत्वादीनामितरेतराध्यासो भविष्यति, दृश्यते हि धर्मिणोर्विवेकग्रहणेऽपि तद्धर्माणामध्यासो यथा कुसुमाद्भेदेन गृह्यमाणेऽपि स्फटिकमणावनिस्वच्छतया जपाकुसुम प्रतिबिम्बोद्ग्राहिण्यरुण: स्फटिक इत्यारुण्यविभ्रम इति।

अन्यत्र इस परस्परापेक्षत्व का भामतीकार खण्डन भी करते है, इन्होंने परस्परा-श्रयत्व को स्वाभाविक और अनादि कहा है। इस तरह वीजाङ्कुर न्याय के द्वारा इसका खण्डन करते हुए यह कहते है कि-

"व्यवहारानादितया तत्कारणस्याप्यध्यासस्यानादितोक्ता ततश्च पूर्वपूर्वमिथ्या ज्ञानोपदर्शितस्य बुद्धीन्द्रियशरीरादेरुत्तरोत्तराध्यासोपयोग इत्यनादित्वाद्वीजाङ्कुरवन्न परस्पराश्रयत्वमित्यर्थ:।[2]

इस तरह पञ्चपादिका और भामती ग्रन्थों में अविद्या के आश्रय और विषय को लेकर भेद माना जाता है।

---

1. भामती - 1.1.1
2. भामती - 1.1.1

भामतीकार मूलविद्या के अनेक भेद मानते हैं। इनके मत में अविद्या अनेक हैं। क्योंकि अनेक अविद्याओं के होने पर भी उनके आश्रय के रूप में अनेक जीवों की सत्ता बन सकती है। यदि एक ही मूलाविद्या होती तो एक जीव में विद्या का उदय होने पर समस्त जीवों की अविद्या दूर हो जाती और सभी जीव मुक्त हो जाते किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता । इसलिए जीव भेद से अविद्या का भेद भी स्वीकार होता है। अतएव अगर किसी एक जीव में विद्या उत्पन्न होती है तो उसी की अविद्या नष्ट होती है अन्य जीव की नहीं। अतएव विद्या और अविद्या में भिन्न भिन्न अधिकरण होने से विरोध नहीं होता। एतदविषयक [1] भामतीग्रन्थ इस प्रकार है-

" न वयं प्रधानवदविद्या सर्वजीवेष्वेकामाचक्ष्महे येनैवमुपालभेमाहि , किं त्वियं प्रतिजीवं भिद्यते। तेन यस्यैव जीवस्य विद्योत्पन्ना तस्यैवाविद्याऽपनीयते न जीवान्तरस्य, भिन्नाधिकरणयोर्विद्याविद्ययोरविरोधात्, तत्कुत: समस्तसंसारोच्छेद प्रसङ्ग:? प्रधानवादिनां त्वेष दोष:, प्रधानस्यैकत्वेन तदुच्छेदे सर्वोच्छेदोऽनुच्छेदे वा न कस्यचिदित्यनिर्मोक्षप्रसङ्ग:। प्रधानभेदेऽपि चेत्तदविवेकख्यातिलक्षणाविद्यासदसत्त्वनिबन्धनौ जीवभेदौ जीवभेदाधीनश्चावि-द्योपाधिभेद इति परस्पराश्रयादुभयासिद्धिरिति साम्प्रतम्। अनादित्वाद्बीजाङ्कुरवदुभयसिद्धेः। अविद्यात्वामात्रेण चैकत्वोपचारोऽव्यक्तमिति।

पञ्चपादिकाकार मूलाविद्या में एकत्व स्वीकार करते है। उनके अनुसार मूलाविद्या की ही भिन्न-भिन्न अवस्थायें अनिर्वचनीय रजत आदि ज्ञान का उपादान बनती हैं और शुक्ति के ज्ञान से निवृत्त होती है इस तरह से मूलाविद्या के एकत्व में

---

1. भामती - 1·4·3

मानने पर भी जीव में स्थित अज्ञान भेद को स्वीकार कर जीवों के बन्धन और मोक्ष की अवस्था प्रतिपादित की जा सकती है। एतत् तात्पर्यक [2] पञ्चपादिका ग्रन्थ इस प्रकार है-

"कथं पुन: नैमित्तिकव्यवहारस्य नैसर्गिकत्वम्? अत्रोच्यते अवश्यं एषा अविद्याशक्ति: बाह्याध्यात्मिकेषु वस्तुषु तत्स्वरूपसत्तामात्रानुबन्धिनी अभ्युपगन्तव्या। अन्यथामिथ्यार्थावभासानुपपत्ते:।

"सा च न जडेषु वस्तुषु तत्स्वरूपाभावं प्रतिबन्धाति। प्रकाणविकल्यादेव तद्ग्रहणसिद्धे:। रजतप्रतिभासात् प्राक् ऊर्ध्वं च सत्यामपि तस्यां स्वरूपग्रहणदर्शनात्। अत: तत्र रूपान्तरावभासहेतुरेव केवलम्।"

पञ्चपादिकाकार इस ग्रन्थ के माध्यम से मूलाविद्या को एक स्वरूप में ही स्वीकार किया है और इसी की व्याख्या करते हुए पञ्चपादिका-विवरणकार भी मुलाविद्या की एकत्व को स्वीकार करते हुए इस [2] ग्रन्थ का व्याख्यान किया है-

"मुलाज्ञानस्यैव अवस्थाभेदा: रजताद्युपादानानिशुक्तिकादिज्ञानै: सहाध्यासेन निवर्तन्ते इति कल्प्यताम्।"

इस प्रकार भामती एवं पञ्चपादिका में मूलाविद्या के बहुत्व और एकत्व को लेकर मतभेद माना जाता है।

---

1. पञ्चपादिका - प्रथम वर्णकम् पृष्ठ 27,28
2. पञ्चपादिकाविरण -प्रथमवर्णक पृष्ठ-88,89

ज्ञान में श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन ये तीनों कारण माने जाते हैं। श्रुति, स्मृति, उपनिषद् गुरुवचनादि का श्रवण करने के पश्चात् उनका चिन्तन तथा उसके अनुसार अपने को संलग्न करके उनके द्वारा तत्वज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होता है। इन तीनों में कौन प्रधान है , कौन अप्रधान । इस बात को लेकर पर्याप्त मतभेद है जहाँ पञ्चपादिकाकार श्रवण को ही विशेष महत्त्व देकर मनन तथा निदिध्यासन को उसका अंग स्वीकार करते हैं और ब्रह्मसाक्षात्कार का प्रमुख हेतु उपनिषद् वाक्यों को ही स्वीकार करते है। ये अपने मत की पुष्टि के लिए कहते हैं कि-[1]

"भूत् ब्रह्मज्ञानार्थिता, वेदार्थत्वादेव ब्रह्मज्ञान कर्तव्यम्, स्वाध्यायाध्ययनस्यार्थ-वबोधफलकत्वात्।"

भामतीकार श्रवण को ब्रह्मसाक्षात्कार में अङ्गी न मानकर निदिध्यासन को अङ्गी मानते है। श्रवण तथा मनन को उसका अंग मानते हैं। वे कहते है कि बुद्धि के द्वारा आगमार्थ से प्राप्त ज्ञान के द्वारा समुपस्थापित संस्कारों से युक्त चित्त ही ब्रह्म में साक्षात्कार करने वाली बुद्धि को प्रवृत्त करता है। एतद विषयक भामतीग्रन्थ[2] इस प्रकार है-

"सत्यं न ब्रह्मसाक्षात्कारः साक्षादागमयुक्तिफलमपि तु युक्त्यागमार्थज्ञानाहित संस्कारसचिवं चित्तमेव ब्रह्मणि साक्षात्कारवतीं बुद्धिवृत्तिं समाधत्ते।

इस प्रकार श्रवण मनन निदिध्यासन के अङ्गाअङ्गी भाव को लेकर भामती तथा पञ्चपादिका में मतभेद प्राप्त होता है।

---

1. पञ्चपादिका- तृतीय वर्णकम्, पृष्ठ 222

2. भामती - 4.1.2, पृष्ठ 147

पञ्चपादिकाकार ईश्वर जीव के विषय में प्रतिबिम्बवाद को स्वीकार करते हैं। इनके मतानुसार ईश्वर का प्रतिबिम्ब जीव है जैसे व्यक्ति का प्रतिबिम्ब दर्पणादि में दृष्ट बिम्ब से अभिन्न होता है। उसी प्रकार अविद्या में प्रतिबिम्बित जीवबिम्ब ईश्वर से अभिन्न है। जब तक ईश्वर का बिम्बत्व भाव समाप्त नहीं हो जाता तब तक जीव ईश्वर के समान रहता है । ब्रह्म रूप नहीं रहता। जब सभी जीवों की कर्मवासनाओं के समाप्त होने पर ईश्वर रूपता रूप मुक्ति हो जाती है और ब्रह्म का बिम्बत्व समाप्त हो जाता है तभी वह ब्रह्मरूपता को प्राप्त करता है।[1]

"यत् पुन: दर्पणजादिषु मुखचन्द्रादिप्रतिबिम्बोदाहरणम् तत् अहङ्कर्तुरनिदमंशो बिम्बादिव प्रतिबिम्बं न ब्रह्मणो वस्त्वन्तरम्, किं तु तदेव तत्,पृथग्भावविपर्यस्तरूपता-मात्रं मिथ्या इति दर्शयितुम्। कथं पुनस्तदेव तत् ? एकस्वलक्षणतावगमात्। तथा च यथा बहि: स्थितो देवदत्तो एतत्स्वलक्षण: प्रतिपन्न तत्स्वलक्षण एव वेश्मान्त:प्रविष्टोऽपि प्रतीयते,तथा दर्पणतलस्थितोऽपि। न तत् वस्त्वन्तरत्वे युज्यते। अपि च अर्थात् वस्त्वन्तरत्वे सति आदर्श एव बिम्बसन्निधावेव तदाकारगर्भित: परिणत: इति वाच्यम्, विरुद्धपरिमाणत्वात् संश्लेषा-भावाच्च प्रतिमुद्रेव बिम्बनाञ्छितत्वानुपपत्ते: । इत्यादि"।

भामतीकार जीव को परब्रह्म का अवच्छेद निरूपित करते है वे कहते है कि जैसे घटाकाश परमाकाश से अलग नहीं है उसी प्रकार अनादि अनिर्वचनीय अविद्योपहित जीव परमात्मा से अलग नहीं है। वह भी ब्रह्मरूपही है। जीव अविद्या और उसकी वासना

- -

1. पञ्चपादिक प्रथम वर्णक पृष्ठ 104-105

उपाधि के अनादि होने से कार्यकारण भाव से स्थित होता हुआ पूर्णरूप से विवेचनीय उस उपाधि से उपहित जीव पूर्णतया विवेचनीय माना जाता है। इस प्रकार घटाकाश के उदाहरण से अवच्छेदवाद में अपना सम्मति मानते है तथा प्रतिविम्बवाद को स्वीकार नहीं करते। प्रतिबिंम्बवाद का खण्डन करते हुए भामतीकार कहते है कि रूपवान द्रव्य ही अत्यन्त सूक्ष्म होने से रूपवान गृह्यमाण किसी अन्य द्रव्य की उसके विवेक से छाया का ग्रहण किया जा सकता है किन्तु रूप रहित विषयी चिदात्मा विषय की छाया को ग्रहण कराने में समर्थ नहीं है इसलिए कहा जाता है कि शब्द, रस, गन्ध आदि की प्रतिबिम्बता नहीं बन सकती। उपर्युक्त तात्पर्यक[1] भामती ग्रन्थ क्रमशः इस प्रकार है-

"यथा घटाकाशो नाम न परमाकाशादन्यः, अथ चान्य इव यावद्घटमनुवर्तते। न चासौ दुर्विवेचस्तदुपाधेर्घटस्य विविक्तत्वात्। एवमवाच्यनिर्वचनीया विद्योपधान भेदोपाधि-कल्पितो जीवो न वस्तुतः परमात्मनो भिद्यते, तदुपाध्युद्भावाभिभवाभ्यां चेद्भूत इवाभिभूत इव। तस्य चाविद्यातद्वासनोपाधेरनादितया कार्यकारणभावेन प्रवहतः सुविवेचतया तदुपहितो जीवः सुविवेच इति।"

"रूपवद्धि द्रव्यमतिस्वच्छतया रूपवतो द्रव्यान्तरस्य तद्विवेकेन गृह्यमाणस्यापि छायां गृहीयात्, चिदात्मा त्वरूपो विषयी न विषयच्छायामुद्ग्राहयितुमर्हति। यथाहुः - "शब्दगन्ध रसानां च कीदृशी प्रतिबिम्बता" इति।

---

1. भामती - 3.2.9, पृष्ठ 52, (1.1.1)

भामतीकार के मत में अखण्डकार वृत्ति से उपहित ब्रह्म ही जिज्ञासा का विषय हो सकता है न कि अनुपहित क्योंकि अनुपहित चैतन्य स्वयं प्रकाश होता है। अत: उसके ज्ञान करने के लिए किसी बाह्य वस्तु शास्त्रादि की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि शब्द ज्ञान प्रकाश ब्रह्म स्वयं प्रकाश नहीं होता। इसलिए सर्वोपाधि रहित ब्रह्म ही स्वयं ज्योति है ऐसा कहा जाता। पञ्चपादिकाकार शुद्ध ब्रह्म को ही जिज्ञासा का विषय स्वीकार करते हैं। इनके मत में उपाधिरहित ब्रह्म ही जिज्ञासा का विषय होता है।

भामतीकार साधन चतुष्टय के अन्तर्गत प्रथम साधन के रूप में सत्यासत्य वस्तुविवेक को स्वीकार करते है। वहीं पञ्चपादिकार तथा उनके अनुयायी विवरणकार नित्यानित्य वस्तुविवेक को प्रथम साधन के रूप में स्वीकार करते है।

स्वाध्य अध्ययन विधि के द्वारा अर्थबोध प्राप्त होता है। यह भामतीकार स्वीकार करते है किन्तु पञ्चपादिकाकार अक्षरों की प्राप्ति होती है यह मानते हैं। वे कहते है कि यदि अर्थ का ज्ञान रूप फलवाली ही अध्ययन क्रिया होती तो अधीयमान के प्राप्ति पर्यन्त ही अक्षरों के ग्रहण के अन्त तक वह अध्ययन क्रिया मानी जाती है। किन्तु अक्षरग्रहण निष्प्रयोजन नहीं होता उससे अर्थावबोध होता है। अर्थात् स्वाध्याय अध्ययन से अक्षरों का ग्रहण होता है और अक्षरों से अर्थ का ज्ञान होता है। इस प्रकार स्वाध्यायाध्ययन विधि का मुख्य फल अक्षर राशि का ग्रहण है।

इस प्रकार उपरोक्त दस स्थलों में इन दोनों मनीषियों के सिद्धान्तों में वैषम्य प्राप्त होता है।

- - -

(ई) अन्नं भट्ट पर मण्डनमिश्र कृत ब्रह्मसिद्धि का प्रभाव की समीक्षा

अन्नं भट्ट अद्वैत वेदान्त के अपने समय के श्रेष्ठ विद्वान माने जाते थे। ये मिताक्षरा ग्रन्थ लिखते समय अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के मूल ग्रन्थों का अध्ययन करके उनके तत्त्वों को विशद रूप में ग्रहण करके उनके तत्त्वों को पुन: संक्षेपेण इस मिताक्षरा ग्रन्थ में पिरोया है। इसीलिए मिताक्षरा ग्रन्थ अनूठा सा वह रस प्रतीत होता है जिसमें कई परागों का सम्मिश्रण हो पर स्वाद सबसे पृथक हो। पञ्चपादिका, पञ्चपादिकाविवरण ,भामती कल्पतरू आदि ग्रन्थों का जिस तरह इसमें प्रभाव परिलक्षित होता है वैसे ही इनके पूर्णकाली आचार्यमण्डन मिश्र की ब्रह्मसिद्धि का प्रभाव इनके ग्रन्थ में प्राप्त होता है कि नहीं यह ध्येय विषय है।

मण्डनमिश्र कृत ब्रह्म सिद्धि कारिका रूप में हमें प्राप्त होती है। इस कारिका-त्मक ब्रह्मसिद्धि के चार भाग है। (1) ब्रह्मकाण्ड (2) तर्ककाण्ड (3) नियोग काण्ड तथा (4) उपसंहार काण्ड। इसमें प्रथमकाण्ड में ब्रह्म के स्वरूप का संक्षेपेणविवेचन हुआ। द्वितीय काण्ड में तर्क के द्वारा ब्रह्म की स्थिति प्रमाणित की गई है। नियोग काण्ड में ब्रह्म विषयक सभी निरूपणीय विषयों का निरूपण करके, चतुर्थ काण्ड में परमतत्त्व का निरूपण करते हुए विषय का उपसंहार किया है।

मिताक्षरा वृत्ति वस्तुत: प्रत्येक सूत्रों के स्वरूप का अपने अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार निरूपण करती है। उस विषय विवेचन के अवसर पर मुख्य सिद्धान्तों का जो विवेचन हुआ है। उसी में कुछ स्थलों पर ब्रह्म सिद्धि का प्रभाव कुछ अंशों में स्वीकार किया जा सकता

क्योंकि मण्डन मिश्र भी अद्वैत मत के अनुयायी माने जाते है और एक विशिष्ट विचारक उनको स्वीकार किया जाता है। इनके मतों का अनुसरण भामतीकार ने किया है। तथा भामती के मतों को अन्नंभट्ट ने कई स्थलों पर अंशत: याप्रधानत: स्वीकार किया है। फलत: ब्रह्मसिद्धि का भी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। यद्यपि कुछ स्थलों पर मण्डन मिश्र पञ्चपादिकाकार से भी प्रभावित लगते है और उन स्थलों में भामतीकार का विरोध भी है फिर भी इनका मुख्य सिद्धान्त भामतीकार के द्वारा मान्य है।

अन्नं भट्ट ब्रह्मसिद्धि के किन प्रमुख अंशों का ग्रहण अपने मिताक्षरावृत्ति में अंशत: या मूलत: ग्रहण किया है इसका विवेचन इस प्रकार है।

ब्रह्म काण्ड में ब्रह्म के स्वरूप को प्रदर्शित करते हुए मण्डन मिश्र ने ब्रह्म को आनन्दमय, एक, अमृतस्वरूप, अजन्मा, विज्ञानस्वरूप, अक्षर, असर्व, सर्व,अभय जिसमें सम्पूर्ण भेद प्रपञ्च का विलय हो उसे ब्रह्मतत्त्व स्वीकार किया है। ब्रह्म में सभी भेदों का उपसंहार बताया है। और इसके लिए संहृता खिलभेद: कहा है-[1]

आनन्दमेकममृतमजं विज्ञानमक्षरम् ।
असर्वं सर्वमभयं नमस्याम: प्रजापतिम् ।। 1 ।।
आम्नायत: प्रसिद्धिं च कवयोऽस्य प्रचक्षते ।
भेदप्रपञ्चविलयद्वारेण च निरूपणम् ।। 2 ।।
संहृताखिलभेदोऽत: सामान्यात्मा स वर्णित:।
हेमेव पारिहार्यादिभेद संहारसूचितम् ।। 3 ।।

---

1. ब्रह्मसिद्धिकारिका: [ब्रह्मकाण्ड]

मिताक्षरा में ब्रह्म सिद्धि के इस अंश का ~~आंशिक रूप में ब्रह्मसिद्धि के इस अंश का~~ आंशिक रूप में स्वरूप देखने में आता है। जैसे तत्तु समन्वयात् के व्याख्यान के अवसर पर उन सभी श्रुतियों को मिताक्षराकार ने उद्धृत किया और एक सामान्य रूप से उसी के आधार पर ब्रह्म का स्वरूप प्रतिपादित किया।[1]

"सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्" (छा० 6·2·7) "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" (ऐत० 2·1·1·1) "तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमाबाह्यं अयमात्मा ब्रह्म" (बृ० 2·5·29)" "ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्" (मु०2·2·11) " एसत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० 2·1) "नेह नानास्ति किन्चन" (बृ०4·4·19) "एको देव: सर्वभूतेषु गूढ: सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा" (श्वे 6·11·) इत्यादिषु तात्पर्यत: सिद्धब्रह्मप्रतिपादनपरे समन्वये अवगम्यमाने, सिद्धास्यापि "तरति शोकमात्मवित् (छा० 7·1·13) इत्यादिश्रुत्या अनर्थ-निवृत्ति लक्षणप्रयोजने चावगम्यमाने, वृथा कार्यपरत्वकल्पनानौचित्यात्।

इन श्रुति वाक्यों में ब्रह्म को एक सद्रूप, अनादि, अनन्त, अमृतस्वरूप, ज्ञानस्वरूप सर्वव्यापी, सभी प्राणियों में व्याप्त बताया गया है जो सिद्ध ब्रह्म के स्वरूप का अव-बोधक है लगभग इन्हीं श्रुतियों के आधार पर ब्रह्मकाण्डकार ने भी पूर्वोक्त कारिकायों में ब्रह्म के स्वरूप को बताया है।

ब्रह्म के आनन्दमय स्वरूप का प्रतिपादन आनन्दमयाधिकरण में मिताक्षराकार करते हुए ब्रह्म के इस स्वरूप को प्रमाणित करने के लिए तैत्तरीय उपनिषद् की कई श्रुतियों को उद्धृत करके आनन्दमय स्वरूप को विशद रूप से बताते हुए[2] कहा है कि-

---

1· मिताक्षरा वृत्ति (1·1·4)

2· मिताक्षरावृत्ति -1·1·12

"सैषानन्दस्य मीमाँसा भवति" [तै0 2·8] "एतमानन्दमयमात्मानपुसंक्रामति" [तै0 2·8] "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान। न बिभेति कुतश्चनेति" [तै0 2·9·] इति, "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् [तै0 3·6] इति च। श्रुत्यन्तरे च "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म [ब्र03·9·28] इति ब्रह्मण्येवानन्दशब्दो दृष्ट:। एवमानन्दशब्दस्य बहुशो ब्रह्मण्यभ्यासात आनन्दमय: परमात्मैवेति सिद्धम्।"

इन श्रुतियों में मिताक्षराकार ने आनन्दमय स्वरूप ब्रह्म का स्पष्ट निरूपित किया है। इसी तरह "द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्" इस सूत्र के व्याख्यान में कहा है कि द्यौ, पृथिवी, अन्तरिक्ष, मन और प्राण जिसके आयतन है वही परब्रह्म है- [1]

" द्युभ्वाद्यायतं परब्रह्मैव। द्यौश्च भूश्च द्युभुवो, द्युभुवावादी यस्य तत्, द्युभ्वादि। द्यौ: पृथिव्यन्तरिक्षं मन: प्राणा इत्येवमात्मकं यदस्मिन्वाक्ये ओतत्वेन निर्दिष्टं तत् द्युभ्वादि, तस्य आयतनं स्थामित्यर्थ:।

इस कथन से ब्रह्मसिद्धिकार के भेदप्रपञ्च विलयद्वारेण इस कथन की पुष्टि होती है। क्योंकि द्यौ आदि इन सभी भेद प्रपञ्चों का विलय होने के कारण या ब्रह्म से उत्पन्न सम्पूर्ण द्यौ आदि उसी के स्वरूप होने से इनके द्वारा ब्रह्म का स्वरूप ज्ञात होता है। इसी तरह अक्षराधिकरण में ब्रह्म का अक्षर स्वरूप निरूपण करते हुए [2] मिताक्षराकार ने बृहदारण्यक के "एतस्मिन्नुखल्वक्षरे गार्गि आकाश ओतश्च प्रोतश्च" [बृ0 3·8·8·11] इस श्रुति के द्वारा ब्रह्म का अक्षर स्वरूप प्रमाणित किया है।

1· मिताक्षरा वृत्ति -1·3·1

2· मिताक्षरावृत्ति- 1·3·10

इस तरह श्रुति वाक्यों के माध्यम से ब्रह्म काण्डोक्त लगभग सभी ब्रह्म के विशेषण मिताक्षराकार के द्वारा व्याख्यात हुए है। जो एक साथ एक स्थल पर उपलब्ध यद्यपि नहीं है फिर भी कई स्थलों में अलग- अलग रीति से निरूपित होने के कारण ब्रह्म के निरूपण में मिताक्षराकार के ऊपर ब्रह्मसिद्धि का प्रभाव आंशिकरूपमें माना जा सकता है।

ब्रह्मसिद्धिकार ब्रह्म और जीव में अभेद स्वीकार करते है और इसके लिए इन तीन स्वरूपों को उद्धृत किया-§1§ बिम्ब प्रतिबिम्बभाव §2§ तरङ्गी - तरङ्गभाव §3§ एक में ही नानात्वभाव। इन्होंने दर्पणगत मुख के समान ही जीव को ब्रह्म से पृथक होते हुए भी अभिन्न बताया है। इसके विषय में तर्कयुक्त कथन ब्रह्मसिद्धिकारका इस प्रकार है-[1]

"दर्पणादौ मुखस्येव भेदो भेदावलम्बन: ।
भेदावलम्बनो भेदो न तथा तत्स्वभावत: ।।"

इसी तरह से जैसे समुद्र नदी आदि के तरङ्ग उनसे भिन्न होते हुए भी अभिन्न माने जाते है। वैसे ही ब्रह्म भिन्न प्रतीत होता हुआ भी जीव उससे अभिन्न है-

[2]प्रत्येकमनुविद्धत्वादभेदेन मृषा तत: ।
भेदो यथा तरङ्गाणां भेदाभेद: कलावत: ।।

1· ब्रह्मसिद्धि §तर्ककाण्ड§ - श्लोक संख्या 30

2· " " - " " 31

ब्रह्म एक है जो एकमेवा द्वितीयम् इस श्रुतिवाक्य से अवगत होता है। अपने ही इच्छा से वह अनेक रूपों में प्रतीत होता है। और यही इच्छा उस परब्रह्म की शक्ति (अविद्या) माया के नाम से जानी जाती है। जिससे उपहित होने पर वह नित्य बुद्ध मुक्त स्वरूप अपने को अनेक रूपों में परिणत करके ईश्वर और जीव रूप भिन्न सत्ता के रूप में स्थित होकर चराचर जगत् रूप सृष्टि के विशाल संसार में अवस्थित होता है। और नाना रूप में प्रतीत होता है किन्तु उसका वास्तविक स्वरूप एकमेवाद्वितीयम् ही है-

[1]एकस्यैवास्तु महिमा यन्नानेव प्रकाशते ।
लाघवान्न तु भिन्नानां यच्चकास्त्यभिन्नवत ।।

उपर्युक्त कारिकायों में जो ब्रह्म से जीव का अभेद दिखाया गया है यद्यपि उसी रूप में प्रतिबिम्ब तथा तरङ्ग के स्वरूप में मिताक्षराकार ने ब्रह्म से जीव अभिन्नता नहीं बतायी है फिर भी उसी तरह के अन्य दृष्टान्तों के द्वारा ब्रह्म के अंश के रूप में जीव को बताया गया है जो इस प्रकार है-

[2]"प्रकाशादिवदिति दृष्टान्तः ।यथा सवितृप्रकाशो व्यापकोऽङ्गुल्याद्युपाधिसंबन्धात् तेऽवृजुवक्रादिभावमापन्नेषु ततद्भावमिव प्रतिपाद्यमानोऽपि, न परमार्थतस्तद्भावं प्रतिपाद्यते। यथा, च आकाशो घटादिषु गच्छत्सु गच्छन्निव विभाव्यमानोऽपि परमार्थतो न गच्छति। एवं अविद्याप्रत्युपस्थापितबुद्ध्याद्युपहिते जीवाख्ये अंशे दुःखायमानेऽपि, न तद्वानीश्वरो दुःखयते।"

---

1. ब्रह्मसिद्धि (तर्ककाण्ड) ,श्लोक संख्या 32

2. मिताक्षरा वृत्ति - 2.3.46

ब्रह्म सिद्धि में जिस तरह से विम्ब प्रतिबिम्ब और तरंगी तरंग दृष्टान्त से ब्रह्म को अभिन्न दिखाया गया है उसी तरह से सूर्य का प्रकाशवत दृष्टान्त से तथा महाकाश तथा घटाकाश के दृष्टान्त से मिताक्षराकार ने जीव को ब्रह्म से अभिन्न बताया।

यह सम्पूर्ण जगत् ईश्वर से ही निर्मित है। ब्रह्म एक है किन्तु अपनी इच्छा से और अनेक रूप में परिणत होता है और एक रूप में होता हुआ भी वह नानारूप में प्रकाशित होता है। सद्रूप में वर्तमान परमात्मा माया से उपहित होकर के आकाशादि नानारूप में भासित होता है। इस विषय में गति समान्यात् इस ब्रह्म सूत्र का मिताक्षरा व्याख्यान ब्रह्मसिद्धि के "एकस्यैवास्तु महिमा" इत्यादि कारिका के स्वरूप को प्रगट करता है। जो इस प्रकार है-[1]

"समानैव हि सर्वेषु सर्वेषु वेदान्तेषु चेतनकारणावगतिः। न क्वचिदपि विरुद्धमुपलभ्यते। "यथा अग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन् एवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवाः देवेभ्यो लोकाः" (कौ0 3-3) इति, "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्संभूतः" (तै02•1) इति ("आत्मत एवेदं सर्वम्) (छा07•26•1) इति, "आत्मन एष प्राणो जायते" (प्र03•3) इति च आत्मन एव कारणत्वं सर्वत्र गम्यते। आत्मशब्दश्चेतने प्रसिद्धः ।

1• मिताक्षरावृत्ति 1•1•10

इस संसार में बन्धन के लिए अविद्या ही कारण है जब तक अविद्या की निवृत्ति नहीं होती तब तक ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव नहीं है। इसलिए अविद्या की समाप्ति ही मोक्ष रूप माना जाता है-

'अविद्यास्तमयो मोक्षः सा संसार उदाहृता ।
विद्यैव चाद्वया शान्ता तदस्तमय उच्यते ।।"

इस प्रकार ब्रह्मसिद्धिकार अविद्या का नाश मय ही मोक्ष स्वीकार किया है और इसी विषय को अपने शब्दों में मतविशेष का उल्लेख करके मिताक्षराकार ने भी दर्शाया है-

"इतरेतु अविद्या - अविद्यानिवृत्ते ब्रह्मस्वरूपत्वेऽपि साध्यत्वं संभवति। "यत्सत्वे यदभावे यदभाव" इत्येवंरूपसाध्यत्वस्यात्रापि संभवात्। ज्ञाने सति अज्ञाननिवृत्तिरूपब्रह्मसत्वं, तदभावे तदभावरूपमज्ञानमिति प्रागभावपरिपालन्येयेन साध्यत्वं वर्ण यन्तीति दिक्।"

ब्रह्मसिद्धिकार श्रवण मनन निदिध्यासन को ब्रह्म साक्षात्कार में आवश्यक मानते है।वे कहते है कि स्वरूपनिष्ठ शब्द से ज्ञात तत्त्व का ही उपासना विधान हो सकता है और उनके अभ्यास से ज्ञान परमतत्त्व का जब पूर्णतया अनुभव प्राप्त होता तभी वेदान्त वाक्यों की प्रमाणता सिद्ध होती है-

---

1. मिताक्षरा वृत्ति -1.1.4

2. ब्रह्म सिद्धि नियोग काण्ड,श्लोक 181,182

स्वस्मनिष्ठाच्छब्दात्तु प्रमितस्य वचोऽन्तरात् ।
उपासना विधानं स्यात् प्राप्ते स्तदपि का वृथा ।।
अभ्यासेन प्रत्यस्य प्रकर्षस्याभिवीक्षणात् ।
तस्माद्भवत्यकार्येऽर्थे वेदान्तानां प्रमाणता ।।

मिताक्षराकार का भी ग्रन्थ उपर्युक्त ब्रह्मसिद्धि के तात्पर्य के समान ही इस प्रकार है-[1]

"धर्मिनिश्चयाभावे तदनुकूलयुक्त्यनुसंधानस्य मननस्याप्यभावात्, धर्मिनिश्चयस्य चौपनिषदे ब्रह्मणि तात्पर्यग्राहकन्यायाधीनत्वात् विचारस्य प्राप्तिः। शाब्दनिश्चये बाह्यतर्काभासमुत्थाप्यमानाशङ्का निवृत्तेः तर्कानुसंधानस्य मननव्यतिरेकेणासंभवात् मननस्य अप्रमितस्य निदिध्यासनासंभवात्, निदिध्यासनस्य सूक्ष्मवस्तुसाक्षात्कारे हेतुभावस्य लोकसिद्धत्वाच्च न विधिसंभवः।

इस तरह विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि ब्रह्म सिद्धि का कई स्थलों पर प्रभाव मिताक्षरा में प्राप्त होता है। और यह प्रभाव तात्पर्यतः प्राप्त होता है न कि शब्दतः क्योंकि मिताक्षरा का मधुमक्खी के समान रस तो सभी पुष्पों का लेते हैं किन्तु का स्वाद सबसे विलक्षण बनाते है। यही इनकी विशेषता है।

---

1. मिताक्षरा वृत्ति - 1.1.4

मिताक्षरा पर कल्पतरू का प्रभाव

कल्पतरू यह ग्रन्थ वेदान्त दर्शन का प्रमुख ग्रन्थ है जो कि अमलानन्द के द्वारा लिखा गया है। इसमें वेदान्त दर्शन के सभी तत्त्वों पर पर्याप्त विवेचन हुआ मिताक्षराकार कल्पतरू को विशेष स्थान प्रदान करते है। उसके मत का अक्षरस: कई स्थलों में उल्लेख भी किया है। "जिज्ञासाधिकरण" में ही कल्पतरू के मतों का दो स्थलों में निर्देश हुआ है। जो इस प्रकार है-[1]

§1§ अत एव गुहाधिकरणे §ब्र0सू0 1·2·3§ कल्पतरौ "ऋतं पिबन्तौ"।§का0उ01·3·1§ इत्यत्र पिबदपिबत्समुदायलक्षणा अजहल्लक्षणोपपादिता।

§2§ अत एव "सहकार्यन्तरविधि: पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्"§ब्र0सू03·4·14§ इत्यधिकरणे कल्पतरूकारा:।"नात्रापूर्वविधि: प्राप्तरनन्योपायतो न च। नियम: परिसंख्या वा श्रवणादिषु संभवेत् इति।

इसी तरह "जन्माद्यस्ययत:" इस सूत्र में भी कल्पतरू का उल्लेख प्राप्त होता है। जो इस प्रकार है -[2]

"अविशिष्टमपर्यायानेकशब्दप्रकाशितम् ।
एकं वेदान्तनिष्णाता अखण्डं प्रतिपेदिरे ।। इति

1· मिताक्षरा वृत्ति -1·1·1

2· मिताक्षरा वृत्ति -1·1·2

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों के द्वारा यह माना जा सकता है कि भामती ग्रन्थ के बाद जिससे बहुत अधिक प्रभावित मिताक्षराकार हुए है ऐसा कल्पतरू ग्रन्थ ही है क्योंकि इन्होंने केवल इन्हीं दो ग्रन्थों का नामेल्लेख किया है अन्य ग्रन्थों का नामोल्लेख किया है अन्य ग्रन्थों का तो केवल सामान्यतया तात्पर्य ग्रहण किया है न कि शब्दों का मूल स्वरूप या मूल तात्पर्य। इस तरह से इन दोनों के द्वारा मिताक्षराकार अधिक प्रभावित प्रमाणित होते है।

इस तरह मिताक्षराकार उपर्युक्त इन सभी महनीय ग्रन्थों के सिद्धान्तों से कुछ स्थलों में पूर्णरूप से तथा कुछ स्थलों में अंशत: प्रभावित प्रतीत होते है। इति।

0 0 0 0 0
0 0 0
0

उपसंहार

उपसंहार

मिताक्षरावृत्ति ब्रह्मसूत्रों पर अन्नं भट्ट द्वारा लिखित है। इसको ही आधार मानकर यह शोध प्रबन्ध लिखा गया है। इसके प्रत्येक अंशों पर न केवल प्रतिपाद्य विषयों की ही समीक्षा की गयी है। अपितु इस पर भी विचार किया गया है कि यह ग्रन्थ किन किन महापुरुषों के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का ग्रहण करके लिखा गया है। साथ ही ग्रन्थकार का स्वयं का चिन्तन कितना उत्तम तथा गम्भीर है।

इस निबन्ध के पाँच अंश बनाये गये हैं जिन्हें अध्यायों में विभक्त किया गया है प्रथम अंश निबन्ध की भूमिका रूप में है। शेष चार अंश चार अध्यायों में विभक्त है। जिनका विवरण इस प्रकार है-

भूमिका- इसमें मिताक्षरा वृत्ति के रचनाकार अन्नं भट्ट का पूरा परिचय दिया गया है जिसमें ये 17 वीं शताब्दी के माने जाते है। ये तिरुमाला के पुत्र थे। इन्होंने मिताक्षरावृत्ति तथा तत्त्वविवेकदीपन वेदान्त दर्शन में, तंत्र वार्तिक सुबोधिनी टीका, स्वविवेक तथा न्यायसुधा व्याख्या पूर्व मीमांसा दर्शन में, तर्क संग्रह , तर्क संग्रहदीपिका वैशेषिक दर्शन में, तत्त्वचिन्तामणि दीधित की सुबुद्धि मनोहरा व्याख्या, तत्त्वचिन्तामण्यालोक की सिद्धाञ्जना नाम की व्याख्या न्याय दर्शन में तथा भाष्य प्रदीपोद्योतन, मिताक्षरा नाम की पाणिनि सूत्रवृत्ति, व्याकरण शास्त्र में रचा है। इस तरह इनके रचे हुए 11 ग्रन्थ माने जाते हैं। ये दोनों पूर्वोत्तर मीमांसायों तथा न्यायवैशेषिक व्याकरण शास्त्र आदि सम्पूर्ण विषयों में निष्णात थे। यह बताया गया है।

मिताक्षरावृत्ति का पूर्ण परिचय देते हुए सूत्र की व्याख्या परम्परा में मिताक्षर वृत्ति का पूरा परिचय देते हुए सूत्रों की व्याख्याओं में वृत्तियों का क्या स्थान है इसका निरूपण करके वृत्तियों में मिताक्षरावृत्ति का स्वरूप दिखाया गया है। वृत्ति का काशिकाकार के द्वारा प्रस्तुत अनुष्टुप संख्यानवती शुद्धगणाविवृत गूढ़ सूत्रार्था। व्युत्पन्नस्य सिद्धि वृत्तिरियं काशिका नाम। इस लक्षण के आधार पर मिताक्षरावृत्ति में समन्वय करते हुए इस लक्षण के आधार पर मिताक्षरावृत्ति में समन्वय करते हुए भाष्य एवं वृत्ति में स्वरूप भेद का सोदाहरण विवरण प्रस्तुत किया गया है। तदनन्तर ब्रह्मसूत्रों पर प्राप्त विविध आचार्यों द्वारा रचित सभी भाष्य ग्रन्थों का और उन पर रचित प्रसिद्ध व्याख्यान ग्रन्थों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

<u>प्रथम अध्याय-</u> इसमें वेदान्त दर्शन का उद्भव कब हुआ और कहाँ से हुआ तथा उसका कि किस रूप में हमें उपलब्ध होता है इसका विवेचन करते समय वैदिक काल से लेकर स्मृति एवं पुराण काल तक के उन ग्रन्थों का विवेचन प्रस्तुत हुआ है, जिनमें वेदान्त दर्शन के तत्त्व प्राप्त होते हैं। इनमें ऋग्वेदादि संहिता ग्रन्थ, शतपथादि ब्राह्मणग्रन्थ, वृहदारण्यकादि आदि आरण्यक ग्रन्थ तथा ईशा, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय तैत्तिरीय, श्वेताश्वर, वृहदारण्यक तथा छान्दोग्य इन आचार्य शंकर द्वारा अभिमत उपनिषदों में प्राप्त दर्शन तत्त्व का विवरण प्रस्तुत किया गया है। तदनन्तर ब्रह्म सूत्रों का सम्पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया गया है। अतएवं ब्रह्म सूत्र में प्राप्त वृत्तिग्रन्थों का पूर्ण विवेचन किया गया है। ब्रह्मसूत्र में प्राप्त सभी भाष्य ग्रन्थों का पृथक-पृथक विवरण के साथ उनके पञ्चपादिक भामती सदृश टीका एवं

टीकाकारों का भी पर्याप्त विवरण प्रस्तुत किया गया। अद्वैत वेदान्त दर्शन के कौन-कौन से प्रमुख आचार्य हुए और उनके द्वारा सिद्धान्त प्रतिपादक कौन-कौन से दार्शनिक ग्रन्थ है इसका पर्याप्त विश्लेषण किया गया है।

द्वितीय अध्याय- इसमें मिताक्षरा वृत्ति का ही पूरा परिचय प्रस्तुत हुआ है। सर्वप्रथम मिताक्षरा वृत्ति के प्रतिपादन शैली की समीक्षा की गयी। तदनन्तर इस वृत्तिग्रन्थ में उपादेयता है। क्या ये वृत्ति ग्रन्थ अपने उद्देश्य में सफल हुआ है कि नहीं इसका विवेचन करते समय यह बताया गया है कि ब्रह्म सूत्रों पर यद्यपि अनेक व्याख्यान हुए है किन्तु सभी व्याख्यान इतना विशद है कि सामान्य बुद्धि वाला व्यक्ति उन ग्रन्थों के माध्यम से ब्रह्म सूत्रों के तात्पर्य को समझने में अपने को समर्थ नहीं पाता। क्योंकि प्रत्येक ग्रन्थ मुख्य विषय से सम्बन्धित विषयों का ही विवेचन अधिक प्रस्तुत करते हैं। प्रमुख विषय का विवेचन गौण सा प्रतीत होता है। किन्तु मिताक्षराकार ने अपने सुव्यवस्थित विवेचन के द्वारा सूत्रों का तात्पर्य ही विशेष रूप से प्रदर्शित किया है और इस उद्देश्य में वे पूर्णतया सफल हुए।

मिताक्षरा वृत्ति पर आचार्य के द्वारा रचित शारीरक भाष्य का कई स्थलों में प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। विशेषतया सूत्रार्थ विवेचन तो कहीं-कहीं पर शब्दानुवाद जैसे प्रतीत होता है। जिससे यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि मिताक्षरा ग्रन्थ भाष्य से पर्याप्त प्रभावित है।

मिताक्षरा वृत्ति ग्रन्थ तथा शारीरक भाष्य ग्रन्थ के प्रतिपादन के स्वरूप का पर्याप्त विचार करते हुए इन दोनों ग्रन्थ की तुलना प्रदर्शित करते हुए मिताक्षरावृत्ति एवं

तृतीय अध्याय - इस अध्याय में चार अध्यायों में विभक्त 555 ब्रह्मसूत्रों के 191 अधिकरणों का पृथक- पृथक विवेचन करते हुए वेदान्त दर्शन के विवेच्य विषयों में मिताक्षराकार योगदान किस प्रकार हुआ है इसका पूरा विवरण विशद रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें अधिकरण के सूत्रों का विवेचन करते हुए मिताक्षराकार के स्वतंत्र चिन्तन का निर्देश करते हुए उसकी समीक्षा की गयी है। मिताक्षराकार ब्रह्म, जीव, माया, जगत, तथा मोक्ष, अध्यारोप अपवाद आदि का तत् तत् अधिकरणों में प्रसङ्गानुसार स्पष्ट प्रतिपादन किया है जिसकी समीक्षा सत् तर्कों के आधार पर की गयी है।

चतुर्थ अध्याय- अन्नं भट्ट मिताक्षरावृत्ति में अपने सभी पूर्ववर्ती प्रसिद्ध आचार्यों के सिद्धान्तों को मधु मच्छिका न्याय के आधार पर अनुशीलन करके एक अलौकिक मधुरस के समान प्रस्तुत किया वे आचार्य कौन-कौन से है उन सभी का विवरण उदाहरणपूर्वक इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

आचार्य पद्मपाद आचार्य शंकर के साक्षात् शिष्य माने जाते है, इन्होंने अद्वैत दर्शन के सिद्धान्तों का पूर्ण ज्ञान भगवत पाद से ही प्राप्त किया है। इनके द्वारा रचित ब्रह्म सूत्रों के चार सूत्रों पर आचार्य शंकर के शारीरक भाष्य में प्राप्त वृत्ति रूप पञ्चपादिका व्याख्यान अद्वैत दार्शनिकों के द्वारा सर्वदा आदरणीय रहा है। यद्यपि यह ग्रन्थ सभी सूत्रों पर ऐसा भामती आदि ग्रन्थों के विचार पर माना जाता है किन्तु साम्प्रति चार सूत्रों में ही उपलब्ध है। इस ग्रन्थ का प्रभाव कई स्थलों पर मिताक्षरावृत्ति में प्राप्त होता है इनके स्थलों का विवेचन इसमें उदाहरणपूर्वक प्रस्तुत हुआ है।

वाचस्पति मिश्र अपने समय के सभी दर्शनों के प्रमुख प्रवक्ता माने जाते है। इन्होंने छः दर्शनों के प्रमुख ग्रन्थों पर वैदुष्यपूर्ण व्याख्यान लिखा है। आचार्य शंकर के शारीरक भाष्य में लिखित भामती व्याख्यान न केवल प्रौढ़ तथा भाष्य के स्वरूप का अलंकारक है, अपितु गूढ़ अर्थों के प्रकाशक होने के कारण प्रस्थान के नाम से अद्वैत मनुष्यों के द्वारा सश्रद्धया सम्मानित है। इसका भी प्रभाव मिताक्षरा ग्रन्थ के कई स्थलों में प्राप्त होता है। जिनमें कतिपय स्थलों का सोदाहरण विवेचन हुआ।

पद्मपादाचार्य एवं वाचस्पति मिश्र दोनों विद्वानों में कुछ स्थलों पर सैद्धान्तिक भेद भी दिखायी पड़ते है। जैसे पञ्चपादिकार जीव और ब्रह्म में बिम्ब प्रतिबिम्बवाद स्वीकार करते है जबकि भामतीकार जीव को परब्रह्म का अवच्छेद निरूपित करते हुए कहते है कि जैसे घटाकाश परमाकाश से अलग नहीं है उसी प्रकार अनादि अनिर्वचनीय अविद्योपहित जीव परमात्मा से अलग नहीं है। इस तरह अविद्या के आश्रय और विषय को लेकर, मूला मि के नानात्मत्व और एकत्व को लेकर, मुक्त जीव के स्वरूप को लेकर, कर्म के स्वरूप को लेकर इस तरह अनेक विषयों में मतभेद है जिनका विवेचन सोदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

मण्डन मिश्र ने ब्रह्मसिद्धि नामक कारिका रूप में एक ग्रन्थ की रचना की थी जो अद्वैत दर्शन का प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है। उसका प्रभाव मिताक्षरा ग्रन्थ में किसप्रकार हुआ है उसका सामन्य विवेचन उदाहरण पूर्वक किया गया है।

मिताक्षरावृत्ति पर कल्पतरू ग्रन्थ का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कई में कल्पतरू का नामोल्लेख करते हुए उनके सिद्धान्तों को अक्षरशः प्रस्तुत करके अन्नं भट्ट ने

अपने मत को पुष्ट किया है जिससे ज्ञात होता है कि अन्नंभट्ट कल्पतरू ग्रन्थसे अत्य-
धिक प्रभावित रहे है। कल्पतरू का नामोल्लेख किन-किन स्थल में हुआ है उसका पूरा विव
रण प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार यह शोध प्रबन्ध विविध ग्रन्थों का अध्ययन करके और उनका मनन त
पूर्णरूप से विचार करके यह शोध प्रबन्ध लिखा गया है। लगभग उन सभी अंशों पर प्रकाश
डाला गया है जो इस मिताक्षरा ग्रन्थ के प्रमुख अंश माने जा सकते थे। प्रत्येक अंशों का
विवेचन करते हुए उनके विवरण के साथ-साथ तार्किक समीक्षा भी प्रस्तुत हुई है जिससे यह
शोधप्रबन्ध अपने मौलिक स्वरूप में स्थित ज्ञात होता है। इसमें किसी भी अनावश्यक विषय
का विरण प्रस्तुत नहीं हुआ है जो मिताक्षरा ग्रन्थ तथा अद्वैत दर्शन से सम्बद्ध नहीं है।

इस तरह अत्यन्त श्रमपूर्वक रचित यह शोध प्रबन्ध अद्वैत दर्शन के ज्ञान पिपासकों
का अवश्य ही अभिलसित तथा अद्वैत आचार्यों के द्वारा प्रशंसित होगाऐसी आशा करते हैं।

0 0 0 0 0
0 0 0
0

परिशिष्ट:

शोध प्रबन्ध में आगत विविध ग्रन्थों के उदाहरणों का विवरण

मूल ग्रन्थ विवरण

सहायक ग्रन्थ विवरण

परिशिष्ट

शोध निबन्ध में आगत विविध ग्रन्थों के उदाहरणों का विवरण

कठ-

केन-

कौषीतकी-

छान्दोग्य-

ब्रह्म सूत्र

स्मृति

जैमिनीसूत्र-

पराशरसूत्र-

मनुस्मृति-

गीता

पुराण

पराशर उप पुराण

शांकर भाष्य

0 0 0 0 0
0 0 0
0

ग्रन्थ सूची

क्र0सं0	मूल ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशन	समय
1.	ईशादि नौ उपनिषद्	संजयदयाल	गीता प्रेस,गोरखपुर	
2.	ऐतरीय आरण्यक	पं0 हनुमानप्रसाद पोद्दार	गीता प्रेस, गोरखपुर	
3.	ऋग्वेद	"	सं श्रीपादसातवलेकर स्वाध्याय मण्डल पारडी	
4.	काशिका वृत्ति	सं0कालिकाप्रसादशुक्ल	तारापब्लिकेशन्स कामाच्छा वाराणसी	1966
5.	गीता	पं0हनुप्रासादपोद्दार	गीता प्रेस,गोरखपुर	1995
6.	छान्दोग्य उपनिषद्	"	"	1995
7.	तर्क संग्रह	अन्नम्भट्ट	चौखम्बा विद्याभवनम्	1990
8.	तैत्तरीय,ऐतरीयब्राह्मण		गीता प्रेस, गोरखपुर	
9.	दृग्दृश्यविवेक			
10.	पञ्चपादिका	श्री पद्मपादाचार्य	गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी,मद्रास	1958
11.	पञ्चदशी	श्री विद्यारण्यमुनि विरचित पीताम्बरजी कृत व्याख्या	संस्कृति संस्थान,ख्वाजानगर बरेली, उ0प्र0	1981
12	पराशर उप पुराण			
13.	भामती	वाचस्पतिमिश्र	जयकृष्णदासहरिदासगुप्त, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी	

14• भारतीय दर्शन — बलदेव उपाध्याय — शारदा मन्दिर, रविन्द्रपुरी दुर्गाकुण्ड, वाराणसी — 1971

15• भारतीय दर्शन — श्री चन्द्रधरशर्मा

16• ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य — स्वामी सत्यानन्द सरस्वती — गोविन्दमठ, वाराणसी — सं0 2028

17• दृग्दृश्यविवेक

18• ब्रह्मसिद्धि — मण्डनमिश्र — गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट लाईब्रेरी, मद्रास

19• ब्रह्मसूत्रवृत्ति मिताक्षरा — अन्नंभट्ट — " " "

20• वेदान्तनय भूषणम् — डॉ0 स्वामी रामकृष्ण प्रपन्नाचार्य — किरातेश्वर प्रकाशन, लखनपुर-1 पंचायत, सीतापुरी किरातेश्वर धाम, झापा, मेच्यन्चलम् (नेपाल)

21• वेदान्तसार — डा0सत्तनारायण श्रीवास्तव — पीयूष प्रकाशन, अलोपीबाग इलाहाबाद — 1993

22• महाभाष्य प्रदीप व्याख्यानि प्रथम खण्ड — इन्टीस्ट्यूट पैन्सायस डेस इण्डलॉगी पाण्डेचेरी — 1974

23• योगसूत्र — प्रो0 सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव

24• सूत संहिता

25• शतपथब्राह्मण